ॐ दक्षिणामूर्तये नमः

वैदिक-सम्प्रदायान्तर्गता औपनिषद-दश-शान्तयः

व्याख्याता

श्रीनिरंजनपीठाधीश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्दगिरि महामण्डलेश्वर

श्री दक्षिणामूर्ति मठ,
प्रकाशन
वाराणसी

ॐ दक्षिणामूर्तये नमः

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला–१९

वैदिक–सम्प्रदायान्तर्गता औपनिषद–दश–शान्तयः

व्याख्याता
श्रीनिरंजनपीठाधीश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्दगिरि महामण्डलेश्वर

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
वाराणसी

शंकरमठ

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी
२२१०१०

प्रथम संस्करण : २०२३ वि.
पुनर्मुद्रण : २०६३ वि.

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक
निर्मल चित्रण
सौंठ की मण्डी
आगरा

आमुख

मधुमतीं मधुमता सृजामि सँ सोमेन ।। (यजुर्वेद २६)

जहाँ कहीं भी भ्रमण में जाते हैं उपनिषद् भाष्यों का अध्यापन चलता ही है। अतः शान्ति पाठ भी होता है। भावुक भक्त उसके अर्थ से अनभिज्ञ होने से पूर्ण लाभ नहीं उठा पाते। उनकी अनेक दिनों से इच्छा थी कि इनका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करना लाभप्रद होता। शंकर कृपा से उनकी इच्छा पूर्ण होने जा रही है। आशा है पाठकवृन्द इस मंत्र समुदाय को अपने जीवन के दैनन्दिन पाठ में संगृहीत कर अनुपम लाभ उठावेंगे। वैदिक मंत्र सभी पापतापों को निवृत्त करने में समर्थ हैं यह युगों से अनुभवसिद्ध है। वेदगम्य भगवान गौरीशंकर अपनी निर्मल कृपा सभी पर करें यही प्रार्थना है।

श्री केदारनाथ
हिमालय
सिंहसंक्रान्ति, १८८८ शाके

महेशानन्द गिरि :

सूचीपत्र

शन्नो मित्रः	१
सह नौ	१०
यश्छन्दसां	१४
अहं वृक्षस्य	२६
पूर्णमदः	३५
आप्यायन्तु	४०
वाङमे मनसि	४७
भद्रं नो	५६
भद्रं कर्णेभिः	५६
यो ब्रह्माणं	६६
नमो ब्रह्मादिभ्यः	७०
मूल मंत्र	७२

ॐ

सर्व-वेदैकसंवेद्यं शिवं निर्मलमाश्रये ।
वस्तुतः कालतो देशादच्छिन्नं शान्तमीश्वरम् ।।

शिवनामनि भावितेन्तरंगे महति ज्योतिषि भानिनीमयार्थे ।
दुरितान्यपयान्ति दूरदूरे मुहुरायान्ति महान्ति मंगलानि ।।

उपनिषद् या सूत्र भाष्य के पूर्व वस्त्र से शिर एवं सारा देह ढक कर दशशान्ति पाठ की परम्परा वैदिक धर्मियों में समग्र विघ्न-निवृत्ति के लिये प्रचलित है ।

शंनो–सह–यश्छन्दा–ऽहंवृक्ष–पूर्णमदा–प्यय: ।

वाङ–भद्रं-नो–भद्रं–यो ब्रह्मा–न–विश्वमित्यपि ।। इत्यादि से संक्षेप में इसका निर्देश है । 'विद्याप्राप्त्युपसर्गशमनार्थं शान्तिं' से शंकरभगवत्पाद भी यही स्पष्ट करते हैं ।

वैदिक कर्मकाण्ड में यजुर्वेद की प्रधानता है । अतः शान्ति मंत्र जप भी कर्म होने से प्रथम यजुः शान्ति को ही रखना स्वाभाविक है । यद्यपि शान्ति मंत्रों में अनेक देवताओं के नाम से अनेक देवत्व भ्रान्ति सहज है तथापि ब्रह्मविद्या प्रकरण में पठित होने से यहाँ सदाशिव की भिन्न शक्तियों के रूप से ही वे ग्राह्य हैं । जिस प्रकार वृक्ष के मूल, स्तम्भ, टहनी, पत्ते, पुष्प, फल, बीज आदि गुण व क्रिया से भिन्न होते हुये भी वृक्ष रूप से अभिन्न हैं इसी प्रकार सदाशिव से सभी देव अभिन्न ही हैं । 'सर्वैः परमेश्वर एक एव हूयते' इत्यादि से वेदभाष्यकार भगवान सायण यही बताते हैं । अनेक नामों से अनेकशक्तियों का उद्बोधन लोक सिद्ध है । लड़ते समय बलहीनता दिखाने पर 'हाथ को धिक्कार है' एवं पर्वतारोहण में 'पैर को धिक्कार है' कहना ही सुन्दर लगता है । विपरीत कहने से विपरीत अर्थ की ध्वनि वक्ता के उद्देश्य

को ही नष्ट कर देगी । सब प्रकार के उपद्रव शान्त होने पर ही ब्रह्मविद्या लाभ संभव है ।

शान्ति पाठ से अन्तः पापनिवृत्ति स्वाभाविक हैं ।

ॐ शं नः मित्रः शं वरुणः शं नः भवतु अर्यमा ।
शं नः इन्द्रः बृहस्पतिः शं नः विष्णुः उरुक्रमः ।।
(वाजसनेयि संहिता ३६)

नमः ब्रह्मणे नमः ते वायो त्वं एव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि ।
त्वां एव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि ।।
सत्यं वदिष्यामि तत् मां अवतु तत् वक्तारम् ।
अवतु अवतु मां अवतु वक्तारम् ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।। (तैत्तिरीय उपनिषद् १)

मित्रः	= मित्र देव
नः	= हमें
शं	= सुख (देवें) ।
वरुणः	= वरुण देव
शं	= सुख (देवें) ।
अर्यमा	= अर्यमा देव
नः	= हमें
शं	= सुख
भवतु	= (देवें) करें ।
इन्द्रः	= इन्द्र देव
नः	= हमें
शं	= सुख (देवें) ।
बृहस्पतिः	= बृहस्पति देव (एवं)
उरुक्रमः	= बड़े कदमों वाले
विष्णुः	= विष्णु देव
नः	= हमें
शं	= सुख (देवें) ।
ब्रह्मणे	= ब्रह्म को
नमः	= नमस्कार है ।
वायो	= हे वायु
ते	= तुम्हें
नमः	= नमस्कार है ।
त्वं	= तू
एव	= ही
प्रत्यक्षं	= साक्षात्
ब्रह्म	= ब्रह्म
असि	= है ।
त्वां	= तेरे को
एव	= ही
प्रत्यक्षं	= साक्षात्

ब्रह्म	= ब्रह्म
वदिष्यामि	= बताऊँगा ।
ऋतं	= (व तुझे ही) ऋत
वदिष्यामि	= बताऊँगा ।
सत्यं	= (एवं तेरे को ही) सत्य
वदिष्यामि	= बताऊँगा ।
तत्	= (इस प्रकार प्रशंसित) वह (ब्रह्म)
मां	= मुझको (विद्यार्थी को)
अवतु	= (विद्यायुक्त करके) बचावे ।
तत्	= वह (वायु रूप ब्रह्म)
वक्तारम्	= आचार्य को (उपदेश देने की सामर्थ्य से युक्त कर के)
अवतु	= बचावे ।
मां	= मेरी
अवतु	= रक्षा अवश्य ही करे ।
वक्तारम्	= आचार्य की
अवतु	= रक्षा अवश्य ही करे ।

तात्पर्य

'शं' शब्द संक्षेप से सभी कल्याण, शान्ति, सुख आदि का वाचक है । परब्रह्म इसीलिये 'शं भु' या 'शं कर' कहा जाता है । बहुवचन 'नः' से वेद की व्यष्टि समष्टि समन्वयात्मक दृष्टि को बताया है । वैदिक जानता है कि सुखी व्यक्ति ही समाज में सुख बढ़ा सकता है एवं सुखी समाज में ही व्यक्ति सुखी रह सकता है । व्यक्ति से भिन्न समाज को स्वीकारना जैसा अन्धविश्वास है, समाज से बहिर्भूत व्यक्ति को मानना भी उतनी ही बड़ी भूल है । अतः वेदों में प्रायः प्रार्थनाएँ बहुवचनान्त हैं । कहीं-कहीं तो 'ग्रामेस्मिन्ननातुरम्' आदि कहकर समाज का स्पष्ट उल्लेख भी है । आधुनिक इतना स्मरण रखें कि वैदिकधर्म में समाज केवल मानवों तक सीमित नहीं है वरन् पशु, पक्षी, नदी, पर्वत, क्षेत्र, आकाश आदि जितना भी जडचेतन जगत है सभी उपकारी होने से उपकार्य भी है । समग्र सृष्टि विराट् पुरुष का अंग है अतः एक ही समाज है । 'द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः' आदि मंत्र इसमें प्रमाण हैं । फिर भी जो हमारे अधिक समीप व प्रत्यक्ष उपकारी हैं उनके प्रति

हमारा कर्तव्य भी अधिक है । 'शं नः कुरु प्रजाभ्यः, अभयं नः पशुभ्यः' 'शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' आदि इसके द्योतक हैं । इस प्रकार हमारे कल्याणकार्यों का क्षेत्र वेद ने शनैः शनैः उन्नत करने का मार्ग दिखाकर अन्त में सर्वकल्याण की भावना तक पहुँचा दिया है ।

मित्र ईश्वर का ही नाम है। वही हमें कर्म में प्रवृत्त करता है, पृथ्वी एवं द्युलोक का धारण करता है तथा निरन्तर प्रेम से देखता रहता है । 'मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो, मित्रो दाधार पृथिवीम् उत द्याम् । मित्रः कृष्टीर् अनिमिषा—ऽभिचष्टे, मित्राय हत्यं घृतवज्जुहोत ।' अर्थात् मित्र रूपी परमशिव ही वेद कहते हुये स्वधर्म में प्रवृत्त करवाता है एवं लोकों की स्थिति का कारण भी वही है । मित्र ही मनुष्यों या विद्वानों, उपासकों को बिना पलक डाले देखता है । कृष्टि शब्द से जो कर्षण की ध्वनि है वह देह रूपी क्षेत्र में धर्म कर्षण ही है। ऐसे मित्र रूपी परमशिव को हे मानवों घीवाली आहुती दो । अथवा घी (घृतं मधु, घृतं उदकं इत्यादि यास्कोक्ति से), शहद या जल से पूजन (अभिषेक) करो । इस प्रकार वेद में मित्र के तीन लक्षण भी बता दिये । सत्कर्म में प्रवृत्त कराना, सहायता करना एवं प्रेम करना और उसको उसके प्रिय खान पानादि के लिये बुलाना मित्र का स्वरूप है । सूर्य भी उदय होकर सन्ध्यावन्दनादि में प्रवृत्त कराता है, ब्रह्मयज्ञादि में अथवा वर्षा आदि में सहायता करता है, दिन भर अनिमिष देखता है अतः मित्र कहा जाता है । प्राण भी इसी प्रकार मित्र पद वाच्य है । अतः प्राणवृत्ति और दिन के अभिमानी देवतारूप से परमशिव हमें सुखकारी हों। प्राणवृत्ति को पुष्ट करना ही यहाँ इष्ट है। दिन सुखकर हों से दिन के सभी कार्य ग्राह्य हैं । प्रमीति अर्थात् मृत्यु संसार सागर से त्राण करने से भी उमापति मित्र पद के वाच्य हैं। अज्ञान निवारक ब्रह्मविद्या ही यहाँ शक्ति इष्ट हैं । अतः ज्ञान शक्ति के द्वारा वह उमापति हमें सुख दें । 'भूमा वै सुखं' से श्रुति स्पष्ट ही केवल ब्रह्म को ही सुखरूप बताती है । इस प्रकार इन शान्ति मंत्रों में अनेक भाव निहित हैं ।

वरुण अर्थात् वरण करता है या आवरण करता है । मेघजाल से आकाश को आवरण करने से इसका नाम वरुण है । परमशिव की इच्छाशक्ति, नाम रूप कर्म से चिदाकाश को आवृत करने से, वरुण देवता मानी जाय यह स्वाभाविक है । अतएव भाष्यकार शंकरभगवत्पादने 'रात्रेश्चाभिमानी देवतात्मा वरुण' कहा है । रात्रि काल की अभिमानिनी वरुण को बताया ही गया है । जीव की इच्छा ही उसे संसरण या मोक्ष की तरफ ले जाती है । इच्छा ही पाप का केन्द्र है । एवं पापशोधन भी वहीं संभव है। इसीलिये वरुण को वैदिक देवतावाद में पापशोधक शक्ति रूप से विशेषतः स्मरण किया गया है । इसी का पौराणिक रूप तीर्थों में स्नान का पापशोधकत्व है। जल की भौतिक शुद्धि में कारणता से वरुण की प्रतीकता तो स्पष्ट ही है । 'वरुणो वारको देवः' (अथर्व १९·१७) में भगवान सायण वरुण को स्पष्टतः पाप वारक ही कहते हैं । इसीलिये भक्तजनों द्वारा उमापति वरण किये जाकर वरुण पद के वाच्य हो जाते हैं । जिस प्रकार कल्याणकामी उनका वरण करते हैं उसी प्रकार वे सदाशिव भी पापी तापी जनों को भी अपनी शरण में आने पर अंगीकार करने से वरुण कहे जाते हैं । 'इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् । आपो मे तस्मादेनसः पवमानश्च मुंचतु ॥' (माध्यन्दिन ६) अर्थात् हमारे द्रोह, मिथ्या, शाप आदि दुर्गुणों को, उनके संस्कारों व पापों को वह जलरूप में स्थित गंगाधर बहाकर हमें मुक्त करे इत्यादि मंत्र इसमें प्रमाण हैं । जिस प्रकार रात्रि सभी कष्टों को दूर कर आनन्द देती है, उसी प्रकार वरुण पापों को दूर कर ब्रह्मप्राप्ति का आनन्द देता है । अपान भी व्यष्टिगत दोषों का निःसारण ही है । अपानवृत्ति का सम्यक् परिचालन स्वस्थ जीवन में अपरिहार्य है ।

अर्यमा अर्थात् अरियों का नियन्ता । तमोगुण या प्रमाद, आलस्य आदि शत्रुओं को नियन्त्रण में लाने वाली सदाशिव की क्रिया शक्ति ही अर्यमा देवता है । इस प्रकार ज्ञान व इच्छा के अनन्तर क्रिया शक्ति को बताया । क्रिया से ही सब पैदा होता है । परन्तु यहाँ ब्रह्मविद्या

प्रकरणस्थ होने से ज्ञान के सहायक कर्म या दैवी कर्म ही इष्ट हैं अतः भगवान् भाष्यकार शंकर 'आदित्ये चाभिमान्यर्यमा' कहकर आदित्य या अखण्ड ज्ञान के अभिमानी को ही यहाँ अर्यमा मानते हैं। ज्ञानेच्छा जब तक कर्म में प्रकट नहीं होती उसकी वास्तविकता नहीं स्वीकार की जा सकती। अतः यहाँ तीनों शक्तियों से प्रार्थना की गई है।* आँख ही व्यष्टि जगत् में अर्यमा का स्थल है। अतः उससे उपलक्षित सभी ज्ञानेन्द्रियाँ पुष्ट होकर शुभकर्म में सहायक बनें।

इन्द्र ब्रह्म का बल है। श्वेताश्वतरभाष्य 'स्वसन्निधिमात्रेण सर्वं वशीकृत्य नियमनम्' नज़दीक होने से ही अर्थात् अनायास ही सभी जडचेतन को वश में रखना ही बल का लक्षण मानता है। 'एवा हि ते विभूतय, ऊतय इन्द्र मावते, सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे (ऋ० १.३.४) में स्वयं श्रुति ही मेरे जैसे हवि देने वाले की उसी क्षण रक्षा करना रूपी विशेष विभूति इन्द्र की बताती है। इसीलिये इन्द्र देवराज कहे जाते हैं। राजा वही होता है जिसकी उपस्थिति स्वभावतः नियमन करे। दण्ड तो सर्वत्र प्रयोग हो ही नहीं सकता 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते, शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते। यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः सजनास इन्द्र' (ऋ० २.१२.१३) पृथ्वी और द्यु उसको नमन करते हैं। उसकी शक्ति के समक्ष पर्वत कांपते हैं। वही उमासहित शंकर का नेत्रों से पान करता है या कुण्डलिनी-सहस्रार-संयोगामृत का भोग करने वाला वज्रधारी, हे मानवों! इन्द्र है। समाज में इन्द्र की तरह राजा के अभाव से ही व्यवस्था का अभाव अद्यतनीय विश्व में स्फुट है। व्यक्ति के लिये भी अन्तर्यामी रूप से सदाशिव की इन्द्रशक्ति निरन्तर धर्म प्रवृत्ति करावे यही इष्ट है।

वाणी और बुद्धि के अधिष्ठाता बृहस्पति वेदात्मा सदाशिव हैं। वेद सदाशिव की बुद्धि या ज्ञान है यह वेद शब्द से ही स्पष्ट है। सृष्टि

*कर्म से ही पितृलोक की प्राप्ति वेदों ने बताई है। अतः अर्यमा को पितृलोक का अधिष्ठाता मानना भी उसे सदाशिव की क्रियाशक्ति मानकर ही है।

आदि सभी कार्यों को वेदानुसार ही परमेश्वर करते हैं। वेद से सृष्टि आदि के नियमों का ज्ञान कराने के लिये ही 'यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० ६.१८) कहकर सदाशिव की वाणी का मुख्य प्रयोग भी बताया एवं मानवों को कर्तव्य भी बताया कि वेदोच्चारण में ही वाणी का मुख्यतया प्रयोग एवं वेदार्थ विचार में ही बुद्धि का प्राधान्येन प्रयोग करें। यहाँ प्रार्थना भी इसी की है। इसी तैत्तिरीय-शाखा में आगे चलकर मनोमय कोश को चतुर्वेदमय ही बताया है। 'आत्मा मनोमयः।.......तस्य यजुरेव शिरः, ऋग् दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा'। 'इस मनोमय आत्मा का यजुर्वेद सिर, ऋग्वेद दाहिना बाजू, सामवेद बाँया बाजू, ब्राह्मण धड़ एवं अथर्ववेद नाभी से आगे का प्रदेश है। इस प्रकार का व्यष्टि मनोमय एवं समष्टि वेदात्मा हमें मोक्ष की तरफ ले जाय, कामना वाले कर्मों में न फंसा दे यह भाव है।

पैर के अधिष्ठाता भगवान विष्णु हमारी कर्मेन्द्रियों को कल्याणमयी रखें। विस्तीर्ण कदमों से तीनों लोकों को नापने वाले विष्णु पादाभिमानी हों यह स्वाभाविक है। अथवा विष्णु सदाशिव की व्यापिका शक्ति या जगदुपादान कारण हैं। उपादान कारण ही कार्य में व्यापक होने से विष्णु नाम सर्वथा सार्थक है। उपादान कारण ही उरु अर्थात् अतिविस्तृत क्रम वाला होता है। वस्तुतः भूत भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों को उपादान कारण क्रमण कर जाता है। यही उरुक्रम या त्रिविक्रम का रहस्य है। सभी परिवर्तनों में उपादान रूप स्वर्ण वैसा ही बना रहता है। उपादान या जगत् के सभी पदार्थ हमें ब्रह्मविद्यार्थ मदद दें।

इस प्रकार सदाशिव की ज्ञान, इच्छा, क्रिया, बल, वेद एवं उपादान शक्तियों का विशेष स्मरण है। इनके कल्याणमय होने से ही विद्या का श्रवण, धारण, उपयोग एवं अप्रतिबद्धता संभव है। इन सब कृपाओं की प्राप्त्यर्थ शक्तिमान् ब्रह्म को नमन करते हैं। वाणी, मन एवं देह से नमस्कार यहाँ इष्ट है। ब्रह्मविद्या के मुख्याधिकारी श्रीपरम-हंसों के लिये नमस्कार छोड़कर और कोई साधन शिव पूजा में अनपेक्षित

है यह भी यहाँ बता दिया। नमस्कारमात्र से ही ब्रह्म की प्रसन्नता उसके आशुतोष भाव को भी प्रकट करती है।

यद्यपि ब्रह्म के सभी रूप हैं तथापि उपनिषदों में प्राणरूप की उपासना को महत्त्व दिया गया है। व्यष्टि व समष्टि की एकता इसमें प्रत्यक्षसिद्ध है। वायुतत्त्व ही स्पर्शादि दोषों से रहित है। मुख से बाहिर आने पर भी जूठे की कल्पना इसमें नहीं है। जीना तो प्राण का पर्याय ही है। सूत्रात्मा रूप से समष्टि वायु के अधीन ही सारे कर्म व उपासना का फल है। 'वायुना वै गौतम! सूत्रेण अयं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि, संदृब्धानि भवन्ति' (बृ० ३·७) में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गौतम! वायु रूप सूत्रात्मा ही इहलोक, परलोक एवं सारे भूतों को बांध कर नियम में रखते हैं। अतः वायु को ब्रह्म का प्रत्यक्ष लिंग मानना स्वाभाविक है। ब्रह्म स्वरूपतः अपरोक्ष अर्थात् साधनों से अनपेक्ष ही मेय है। इसी प्रकार वायु भी प्राणरूप से इन्द्रियादिओं से अनपेक्ष ही मेय होने से प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा गया है। वस्तुतः प्राण को साक्षी प्रत्यक्ष माना जा सकता है। वायुरूप से सगुणोपासना करने पर ही अन्तर्यामी निर्गुण रूप से जाना जा सकता है। अतः वायु को ही उपदिष्ट करना यहाँ निर्दिष्ट है। उपदेश मात्र सगुण का ही होता है। लक्षणा या अचिन्त्य शब्दशक्ति से अथवा ध्वनि या प्रतिभा से निर्गुण का ज्ञान उसी सगुण के उपदेश से संभव हो जाता है।

सूत्रात्मा या ब्रह्म की कृपा से ही बुद्धि में शास्त्रानुकूल एवं कर्तव्यानुकूल अर्थ का निश्चय संभव होने से वही ऋत है। ठीक प्रकार का निश्चय ही श्रद्धादाढर्य द्वारा वाणी और शरीर से सम्पन्न होने पर सत्य कहा जाता है। यह सत्य भी महेश्वर कृपा से ही संभव है। अन्यथा बुद्धि के निश्चय केवल मानस तनावों को ही उत्पन्न करते रहते हैं। अतः ब्रह्म ही सत्य भी कहा ज़ायगा। इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि बुद्धि में जो मेरा शास्त्र से उत्पन्न निश्चय है वही कहूँगा एवं बाह्यक्रिया में जो मैंने प्रकट किया है अर्थात् जिसका स्वयं

अनुभव और आचरण किया है उसी का उपदेश करूँगा। शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि ऋत और सत्य का कभी त्याग नहीं करूँगा।

सर्वनामरूपकर्मात्मक वायुप्रतीकवाला परब्रह्म मुझ से प्रत्यक्ष, नमस्कार्य, ऋत व सत्य एवं तदनुग्राहक रूप से प्रशंसित हुआ कृपा करके मुझ विद्यार्थी को विद्यावान् बनाकर अज्ञानान्धकार से मेरा रक्षण करे। वायुरूप से व्यष्टि-प्राणात्मा एवं समष्टि-सूत्रात्मा रूप परमेश्वर आचार्य का रक्षण करे। अन्यथा शिष्य शंका का प्रत्युत्तर आदि न मिलने से असहाय अनुभव करेगा।

द्वितीय संरक्षण की प्रार्थना आदरार्थ है। अथवा प्रथम से साधन-काल में संरक्षण की प्रार्थना है एवं द्वितीय से सिद्धकाल में भी विद्यार्थी की अपनी विद्या के पोषण एवं आचार्य के दीर्घायु आदि की कामना है। अविद्याकामकर्म की निवृत्ति होना शिष्य की सफलता है एवं विद्यासन्तति से होने वाली तुष्टि ही आचार्य की सफलता है।

प्रत्येक प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखों से पीड़ित है। कष्ट रूपी विघ्नों के बाहुल्य में विद्या प्राप्ति असंभव है। अतः तीन बार शान्ति से उन तीनों के प्रशमन की प्रार्थना है। शरीर के रोग आदि आध्यात्मिक हैं। कुत्ते, सांड आदि या अन्य मानवों से होने वाला दुःख आधिभौतिक है; एवं विद्युत्पात आदि आधिदैविक कहा जाता है।

द्वितीय मंत्र

ॐ सः ह नौ अवतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनौ अधीतं अस्तु मा विद्विषावहै ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।। (काठक संहितोपनिषद् २·३·१९)

सः	= वह (परमशिव)	सह	= साथ साथ
ह	= ही (निगमागम प्रसिद्ध)	वीर्यं	= परिश्रम
		करवावहै	= करें,
नौ	= हम दोनों को	तेजस्विनौ	= दोनों तेजस्वियों का
अवतु	= बचावे;	अधीतं	= पढ़ा हुआ
सह	= साथ साथ	अस्तु	= हो ।
नौ	= हम दोनों को	मा	= मत (हम आपस में)
भुनक्तु	= पाले;	विद्विषावहै	= द्वेष करें ।

तात्पर्य

यह भी कृष्ण यजुर्वेद की शान्ति है । जिस महेश्वर से भिन्न-भिन्न शक्तियों के द्वारा कल्याण कामना एवं वायु रूप से जिसे स्मरण किया गया था उसी से यहाँ साक्षात् प्रार्थना है । पूर्व मंत्र में बहुवचन में प्रार्थना थी, यहाँ द्विवचन में । अध्ययन में साक्षात् गुरु व शिष्य दो ही अपेक्षित हैं । अतः यहाँ उसी पर बल है ।

विशेषतः पूर्व मंत्र में सामान्य मंगल कामना थी पर यहाँ प्राधान्येन अध्ययन विषयक है । इसीलिये भगवान भाष्यकार 'बचावे' का तात्पर्य 'विद्यास्वरूप प्रकाशन से' एवं 'पाले' का रहस्य 'विद्याफल प्रकाशन से' स्पष्ट करते हैं ।

शिष्य व आचार्य के प्रमाद या अन्याय से विद्याग्रहण एवं विद्या का प्रतिपादन दोषवाला हो जाता है । इन दोनों दोषों की निवृत्ति के लिये परमशिव से यह प्रार्थना है । वस्तुतः विद्याग्रहण के लिये श्रद्धातिरेक आवश्यक है । विद्या प्रतिपादन में मीमांसा, स्मृति, ऊहापोह आदि के साथ शान्ति भी चाहिये । अतः परमशिव की कृपा के बिना दोनों संभव नहीं । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' 'शान्तो दान्त उपरतः' आदि वेदाज्ञा के अनुसार अनेक जन्मों तक वेदस्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप आदि से पूतान्तःकरणवाला एवं शम, दम, आदि से युक्त श्रीपरमहंस ही मुख्य शिष्य होता है । साम्बसदाशिव की आराधना से एकाग्रचित्त एवं वैराग्यवान शिष्य भी ब्रह्मविद्याधिकारी बन जाता है । चाहे शिव के प्रेम के कारण हो, चाहे काम्यकर्मों से सम्पादित पदार्थों की असारता के अनुभव से हो, या अकृत की प्राप्ति में कृत की अहेतुता के निश्चय से हो, वैराग्य सर्वथा आवश्यक है । गुरु वेदरहस्यज्ञाता, स्वानुभवी एवं बोध कराने में कुशल होने के साथ-साथ योग व तंत्र का ज्ञाता भी होना चाहिये जिससे शिष्य के प्रतिबन्धकों की निवृत्ति का उपाय बता सके । ब्रह्मनिष्ठ होने से उसमें बहिर्मुखता की तो कल्पना भी असंभव है । अतः यद्यपि 'हम दोनों द्वेष न करें' में गुरुकृत द्वेष भी निवृत्त हो ऐसी प्रतीति होती है तथापि शिष्य कल्पित ही यह द्वेष समझना चाहिये । गुरु ने मुझे ठीक से या प्यार से अथवा पूर्णता से नहीं पढाया इस प्रकार की शिष्य कल्पना एवं मेरी सेवा, नति, प्रार्थना आदि से गुरु तुष्ट नहीं हुये आदि भी शिष्य कल्पना ही दोनों प्रकार के द्वेष से संगृहीत हैं । अन्यथा गुरु में द्वेष की संभावना स्वीकारने से उसकी कृतकृत्यता नहीं बनेगी । वस्तुतः सारी शान्ति शिष्य कृत ही होती हैं । गुरु को वे आवश्यक नहीं । शिष्य ही गुरु के स्वाविद्याकल्पित देह आदि के लिये प्रार्थना करता है यही सत्य है ।

यद्यपि परमशिव अन्तःकरण में 'अहं' प्रतीति का विषय होने से 'सः' पद से कहे जाने के योग्य नहीं तथापि शास्त्र व आचार्य के

उपदेश से अन्तःकरण संस्कृत होने से पूर्व परोक्षता की भ्रान्ति की विद्यमानता से अप्रत्यक्ष निर्देश बन जाता है। उस परमशिव की कृपा से ही गुरु का निष्प्रयोजन भी आलस्य रहित उपदेश संभव होता है। इसीलिये काठक उपनिषद् उसे 'आश्चर्यो वक्ता' कहती है। एवं अज्ञान प्रसूत अन्तःकरण में अज्ञान-संशय-विप्रतिपत्ति आदि दोषों से रहित वृत्ति भी 'आश्चर्यो ज्ञाता' आदि श्रुति बल से आश्चर्य ही माना जा सकता है। इसीलिये श्रुति यहाँ गुरु व शिष्य दोनों को ही तेजस्वी बताती है। 'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्विद्मस्तद्बोधहानतः' शब्द या वेद की आश्चर्यजनक शक्ति से ही उस अज्ञेय शिव का ज्ञान संभव है जिसका प्रमाण हमारे अज्ञान का नाश ही है इत्यादि से भगवान सुरेश्वर ने यही प्रतिपादित किया है। शिष्य की अविद्या-निवृत्ति ही गुरु के परितोष का कारण है।

अविद्यानिवृत्ति में गुरु प्रधान है या शिष्य इस विषय में अनेक आचार्यों में मतभेद है। यहाँ स्वयं श्रुति तो साथ-साथ परिश्रम या वीर्य का निर्देश कर समानता का ही प्रतिपादन करती है। एक ही ब्रह्मा के इन्द्र और विरोचन अथवा देव, मानव, दानव, दोनों या तीनों शिष्य थे एवं उन्हें उपदेश भी एक ही मिला। परन्तु अपनी योग्यता से उन्होंने भिन्न-भिन्न समझा व भिन्न फल भी पाया। इससे शिष्य प्रधानता ही प्रतीत होती है। क्षेत्र या बीज की प्रधानता का विचार भी इसी प्रकार का है। वस्तुतः बीज ही वृक्ष की जाति का निश्चय करता है एवं क्षेत्र वृक्ष के परिपुष्टता एवं संवर्धन का। अतः यहाँ भी वही समझना चाहिये। शिष्य का ज्ञान गुरूपदेश की जाति का ही होगा पर दृढ़ता आदि उसके स्वपरिश्रम पर निर्भर करेगी। अतः दोनों को परिश्रम करना चाहिये। अथवा शिष्य के मुख आदि लिंगों से असमझ आदि को जानकर समझाना गुरु का वीर्य है। गुरु की भक्ति से चित्त को एकाग्र रखकर विषय में प्रवेश करना शिष्य का वीर्य है। अथवा स्वात्मसमर्पण शिष्य का वीर्य है एवं शिष्य के अन्दर प्रवेश करके उसे शक्तिपात द्वारा उद्बुद्ध करके आनन्द स्वरूप ब्रह्म में

लीन कर देना गुरु का वीर्य है। किसी भी हालत में श्रुति साथ-साथ अपने-अपने श्रम का विधान करके उनकी समानता ही बताती है।

शंकरभगवत्पाद ने विकल्प से 'तेजस्वि नौ' दो पद भी माने हैं। अतः हमारा किया हुआ अध्ययन तेजस्वी हो अर्थात् शिष्य परम्परा में चलता रहे ऐसा अर्थ भी संभव है।

त्रिविधशान्ति तो सर्वत्र एक अर्थ वाली ही है।

तृतीय मंत्र

ॐ यः छन्दसां ऋषभः विश्वरूपः
छन्दोभ्यः अधि अमृतात् सं बभूव ।
सः मा इन्द्रः मेधया स्पृणोतु
अमृतस्य देव धारणः भूयासम् ॥
शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे
मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् ।
ब्रह्मणः कोशः असि मेधया
पिहितः श्रुतं मे गोपाय ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (तैत्तिरीय उपनिषद् १·४)

यः	=जो	स्पृणोतु	=बलवाला करे ।
छन्दोभ्यः	=वेदों से	देव	=हे महादेव !
अमृतात्	=अमृत से	अमृतस्य	=ब्रह्मज्ञान रूपी अमृतका
अधि	=ऊपर	धारणः	=धारण करने वाला
सं	=सार रूप से	भूयासम्	=बनूं ।
बभूव	=प्रकट हुआ,	मे	=मेरा
छन्दसां	=वेदों में	शरीरं	=शरीर
ऋषभः	=श्रेष्ठ (तथा)	विचर्षणं	=योग्य, (व)
विश्वरूपः	=सर्वरूप वाला है;	मे	=मेरी
सः	=वह	जिह्वा	=जीभ
इन्द्रः	=परमशिव इन्द्ररूप से	मधुमत्तमा	=अत्यन्तमधुरभाषिणीहो,
मा	=मुझे	कर्णाभ्यां	=दोनों कानों से
मेधया	=बुद्धि से	भूरि	=खूब

विश्रुवम्	=सुनें	मे	=जो मेरा
ब्रह्मणः	=परमात्मा का	श्रुतं	=सुना हुआ
कोशः	=बाह्यरूप	गोपाय	=(उसकी) रक्षा करो ।
असि	=तुम हो ।		
मेधया	=लौकिक बुद्धि से		
पिहितः	=ढके हुये हो ।		

तात्पर्य

तैत्तिरीयशान्तियों में मेधा प्राप्ति के लिये इसके जप का विशेष विधान किया गया है । इसका देवता साक्षात् सदाशिव है । सदाशिव का साक्षात् नाम 'ॐ' ही है । भगवान गौडपादाचार्य तो स्पष्ट कहते हैं 'अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः । ॐ कारो विदितो येन स मुनिः नेतरो जनः ॥' (माण्डूक्यकारिका १·२९) सभी मात्राओं से परमार्थतः रहित होते हुये भी स्वशक्ति से जो अनन्तमात्रावाला है एवं जिसके ध्यान से सभी द्वैतप्रपंच अपने में लीन हो जाता है वह शिव ॐ का स्वरूप एवं तटस्थ उभय लक्षण से प्रतिपाद्य है इस प्रकार जिसने जान कर उपासना की वही वस्तुतः मुनि है, उससे भिन्न कोई दूसरा मुनि नहीं हो सकता । यह ॐ कार मानो वेद से मथकर सार रूप से निकाला गया है । अतः वेद से उत्पन्न भी है और वेदों से श्रेष्ठ भी है । जिस प्रकार मक्खन दूध से उत्पन्न भी है और दूध से श्रेष्ठ भी है । छन्द वेद को इसीलिये कहते हैं कि वेदों में ही ॐ रूपी नाम और परमशिव दोनों छिपे हुये हैं । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तत्पदं ओमित्येतत्' (कठ० २·१५) 'ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः; स एष रसानां रसतमः परमः' (छा० १·१) 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' (प्र० ५) आदि से ॐ की श्रेष्ठता व शिव-नामता स्पष्ट है । इसीलिये वैदिक मंत्रों का उच्चारण आदि व अन्त में ॐ लगा कर ही किया जाता है ।

अमृत यह वेद का विशेषण हो तो वचन भेद आर्ष समझना चाहिये । वेद की नित्यता या अमृतत्व 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वे सति

अनवच्छिन्नपरम्पराप्राप्तत्वं' कर्ता के अभाव से ही सिद्ध है । ब्रह्मा तो सृष्टि के आदि में पूर्वकल्प अधीत वेदों का तप व कर्म की अधिकता के फल से स्मरण मात्र करते हैं । लोक में भी कोई बालक प्रारंभ से ही विषय विशेष में प्रविष्ट देखा जाता है । वहाँ बलवत्तर संस्कार ही कारण मानते हैं । भगवान शंकर तो 'मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठम् आत्मचैतन्यं अनादिनिधनं यजुःशब्दवाच्यं आत्मविज्ञानं मंत्रा इति । एवं च नित्यत्त्वोपपत्तिर्वेदानाम्' (तैंभा०) कहकर वेदों की नित्यता का आत्मा की नित्यता से अभेद सम्बन्ध कायम करते हैं । भाष्यमत में आत्मचैतन्य ही वेद का अर्थ है जो शब्दराशि द्वारा प्रसूत मन की वृत्ति से स्फुट होता है । वृत्ति को उत्पन्न करने वाला होने से वेद का शब्द समूह भी वेद कहा जाता है । किंच अमृत या मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् साधन होने से भी वेद अमृत है । कर्मफल भी अमृत शब्द का अर्थ होता है । वह वेदाधीन होने से वेद भी अमृत है । किसी भी प्रकार से वेद नित्य होने से वेद द्वारा उत्पन्न एवं वेदों का सार ॐ कार नित्य हो यह तो कैमुतिकन्याय से स्वयं सिद्ध है ।

कुछ विचारक अमृतात् को अलग ही विशेष्य स्वीकारते हैं । ब्रह्म ही 'ब्रह्म परामृतं' (मुं० २·१·१०) 'एष त आत्माऽन्तर्याम्य् अमृतः' (बृ० ३·७) आदि श्रुतियों से अमृत पदार्थ है । अतः परब्रह्म ही मानो ॐ कार को वेदों से निकालते हैं । अतः सदाशिव यहाँ निमित्त कारण हैं एवं वेद उपादान कारण । अथवा मोक्ष रूपी अमृत के निमित्त वेदों से ॐ कार निकला । इसीलिये सामवेद में 'प्रजापतिः लोकान् अभि अतपत् । तेभ्यः अभितप्तेभ्यः त्रयी विद्या सं प्र अस्रवत् । तां अभि अतपत् । तस्याः अभितप्ताया एतानि अक्षराणि सं प्र अस्रवन्त भूः भुवः स्वः इति । तानि अभि अतपत् । तेभ्यः अभितप्तेभ्यः ॐ कारः सं प्र अस्रवत् ।।' (छा० २·२३) कहा है । विराट् ने लोकों, अर्थात् सभी अनुभूयमान जगत, का सार जानने की इच्छा से ध्यान किया । विराट् को समग्र पदार्थों के सार रूप से मंत्र-ब्राह्मण-आरण्यक रूप वेदों का भान हुआ । उनके भी सार पाने के निमित्त ध्यान करने पर भू. भुवः व स्वः का भान

हुआ । उनके भी सार रूप से ॐ कार प्रकट हुआ । तात्पर्य हुआ कि विषयों से उनका सदुपयोग बताने वाला वेद श्रेष्ठ है । वेद द्वारा प्राप्तव्य तीन लोक फल दृष्टि से श्रेष्ठ हैं । तीनों लोकों की अपेक्षा मोक्ष का साधन होने से ॐ कार श्रेष्ठ है । तीनों लोकों की प्राप्ति का वास्तविक उद्देश्य मोक्षप्राप्ति ही है । वस्तुतस्तु यहाँ भगवान भाष्यकार शंकर 'लोकादिनिष्पादनकथनं ओङ्कारस्तुत्यर्थम्' लोक, वेद व व्याहृति के सार रूप से उत्पत्ति बताना प्रणव की प्रशंसा के लिये है कहकर इसमें वास्तविकता स्वीकार ही नहीं करते । सर्वोत्कृष्ट फल देना ही ॐ कार की सर्वश्रेष्ठता है । इसीलिये उसको 'ऊपर' बताया । विराट् को उसका भान होना ही उसकी उत्पत्ति कही जाती है, क्योंकि नित्य होने से उत्पत्ति असंभव है ।

'वाचं धेनुमुपासीत' आदि श्रुतियों में वेदों को प्रायः गो कहा जाता है एवं गो शब्द का एक अर्थ वेद भी अनेकार्थकोषों में बताया है । पुराणों में प्रायः श्रुतियों का जब भगवान के पास जाना बताया है तो गो रूप से ही । उन सभी श्रुतियों के सांड सदृश प्रियतम एवं शासक होने से सदाशिव वेदों में ऋषभ कहे गये हैं । सदाशिव का नाम होने से प्रणव भी वृषभ है । सारी श्रुतियों का प्रतिपाद्य एकमात्र वही है । जिस प्रकार वृषभ के बिना गौएँ निष्फल होती हैं उसी प्रकार सदाशिव के बिना सभी श्रुतियाँ निष्फल हैं । दक्ष ने शिव का अवहेडन करके श्रुतियों के बल से यज्ञ करना चाहा तो उसे बकरा बनना पड़ा यह कथा प्रसिद्ध ही है । स्वयं वेद भी कहता है 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' जिसने सदाशिव की उपासना करके उन्हें नहीं जाना वह ऋचाओं से क्या करेगा । गौ दूध तभी देती है जब बछड़े वाली हो । इस शक्ति का आधान वृषभ ही करता है । श्रुति तो कामधेनु है । पर शिव से युक्त होकर ही । अथवा श्रुतिप्राधान्येन शिव कामवर्षक है और शिवप्राधान्येन श्रुति मोक्षप्रद है । इस प्रकार श्रुति भोग और मोक्ष दोनों देती है । ॐ कार से ही वेद शिव का निर्देश करता है । अतः सभी कर्म और उपासना में गौणरूप से ॐ को रखने पर कामनाएँ पूर्ण होती हैं ।

प्रधानरूप से ॐ की उपासना करते हुये कर्मोपासना का साथ-साथ पालन मोक्ष का साधक है। सर्वथा ॐ में प्रतिष्ठित होने से तो ब्रह्म-संस्थता रूपी मोक्ष सद्यः मिलता है।

वेद की ऋचारूपी पत्नियों का एकमात्र पति शिव है यह ऋग्वेद में 'याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः' (१०·३०) कल्याण करने वाली सदा युवा रहने वाली पत्नियों से सोम भगवान जो अमर हैं हर्ष एवं मोद कर रहे हैं कहकर प्रतिपादित है। कल्याणी पद से वेद वाणी को अन्यत्र भी 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' (यजु० २६·२) कहा है। वस्तुतः स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग दर्शक वेद से और अधिक कल्याणकारी हो ही कौन सकता है। माता तो मर्य देह देती है परन्तु श्रुति माता तो अमरता देती है। वेद वाणी नित्य युवा है। अर्थात् प्रति युग में वैसी ही प्रबल बनी रहती है। अन्य वाणी समय से पुरातन हो जाती है। संस्कृति, सभ्यता, देश, काल, राज्य, परिस्थिति आदि से वेद वाणी में फर्क नहीं पड़ता। शिव को सोम पद से कहा है क्योंकि उमा सहित होने पर ही यह पद अर्थवान् होता है। शिवशिवा का अभेद ही वेद में प्रतिपादित है। उमा ब्रह्मविद्या है अतः उसका अन्य सभी वेदभागों से श्रेष्ठत्व भी यहाँ बता दिया है। 'न मर्यः' का अर्थ मानव की तरह भी होता है। जैसे साधारण मानव पत्नियों से खेलता है वैसे ही परमेश्वर श्रुतियों से खेलते हैं। मोद व हर्ष से यह भी निर्देश है कि परमेश्वर को प्रसन्न करने का सर्वोत्कृष्ट तरीका वैदिक ऋचाओं का पाठ व मनन ही है। यहाँ भी ऋषभ शब्द से यही सब ध्वनित किया है। ॐ ही वेद की शब्द राशि का प्रतिपाद्य इष्ट होने से पति है।

वेद प्रतिपाद्य कहने से ऋचाओं से अतिरिक्त स्थलों में परमशिव नहीं है इस सन्देह की निवृत्त्यर्थ उसे विश्वरूप कहा। यजुर्वेद के नमकाध्याय में इसका स्पष्ट प्रतिपादन है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३) 'सर्वगतः शिवः' (श्वे० ३·११) 'पुरुष एवेदं विश्वं' (मु० २·१·१०) 'आत्मैवेदं सर्वं' (छा० ७) 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' (मु० २·२·११) आदि श्रुतियाँ संक्षेप में यही बताती हैं। ब्रह्म की तरह ही नाम प्रपंच में ॐ कार

व्यापक है। अकार कण्ठस्थानीय है एवं उकार ओष्ठस्थानीय है। अतः सर्व ध्वनिकेन्द्रों का संग्रह कण्ठ से ओष्ठ तक होने के कारण आद्यन्त से सर्व संग्रह हो गया। केवल नासिका स्थान बचा था वह अनुस्वार से आ गया। इस प्रकार सभी वाणिस्थान ॐ से व्याप्त हैं। 'ओङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा ओङ्कार एवेदं सर्वम्' (छा० २) आदि श्रुतियाँ तो स्पष्ट ही ॐ को सर्वरूप बताती हैं। सर्व नामप्रपंच में ॐ की व्यापकता समझ में आने से किसी भी नाम का श्रवण, कथन, स्मरण आदि होते समय ॐ कार का चिन्तन करने से तदभिन्न शिव का स्मरण स्वाभाविक रूप से चलता रहता है।

यद्यपि पौराणिकों के प्रचार से इन्द्र किसी देवता विशेष में रूढ हो गया है एवं वह भी कोई उत्तम देवता नहीं। वैष्णव सम्प्रदायों ने एवं तत्पूर्ववर्ती बौद्धों ने तो मानो इन्द्र को सर्वथा निकृष्ट ही सिद्ध करने को कमर कस रखी थी। ठीक भी था क्योंकि वैदिक वाङमय में इन्द्र पद सर्वश्रेष्ठ शक्ति का द्योतक है। अवैदिक उसका ही सर्वाधिक विरोध करें यह स्वाभाविक था। परन्तु वस्तुतः इन्द्र ब्रह्म का ही पर्याय वेदों में है। 'इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐ० ३) से ऋग्वेद स्पष्ट ही इन्द्र को महेश्वर का पर्यायवाची बताता है। लक्षणा से अन्य श्रेष्ठ पदार्थ को भी इन्द्र कहा जाता है यह विषय दूसरा है। तैत्तिरीयारण्यक में भी 'सहस्राक्षस्य महादेवस्य धीमहि' (१०·३) से महादेव गायत्री में सहस्राक्ष इन्द्र को परमशिव से अभिन्न ही प्रतिपादित किया है। भाष्यकार शंकर भगवान् 'इन्द्रयोनिः' का अर्थ ही 'इन्द्रस्य ब्रह्मणः योनिः' (तै. भा. १) कहकर स्पष्ट इन्द्र को ब्रह्म बताते हैं। अतः यहाँ भी इन्द्र पद से ब्रह्म का ही ग्रहण है। बुद्धिरूपी बल प्राप्त करने की कामना होने से सदाशिव के बलशक्ति का वाचक इन्द्र पद का प्रयोग सर्वथा उचित ही है। अन्यत्र भी 'इन्द्र क्रतुं न आ भर, पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥' (अ० १८·६७) परमशिव की इन्द्र नाम से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र! आप जैसे पिता पुत्र को शिक्षा देता है उसी प्रकार हमारी

निश्चयात्मिका बुद्धि को शिक्षा देवें । अथवा सोम संबंधी कर्म उपासना आदि का ज्ञान हमें सिखावें । हम आपको पुनः पुनः नाम लेकर बुलाते हैं । ऐसे बुलाये हुये आप इस संसार यान में हमें इस प्रकार चलने की शिक्षा देवें कि हम जीव इहलोक में सुख एवं आपके शुद्ध चिन्मात्र ज्योति स्वरूप से अभिन्नता प्राप्त करें । यहाँ भी मेधा रूपी बल की कामना की गई है अतः इन्द्र नाम से शिव का स्मरण है । यहाँ ॐ कार से अभिन्नता ही इन्द्र की है । 'स एवंभूत ओङ्कार इन्द्रः सर्वकामेशः परमेश्वरः' से भगवान शंकर यही बताते हैं । इस सुमेधा या मोक्ष-हेतुभूता ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये कामेश्वर रूप में उपासना की सर्वश्रेष्ठता इष्ट होने से ही शंकर भगवत्पाद ने यहाँ स्पष्टतः उसका उल्लेख किया है । कामेशोपासना गुरुगम्य ही मानी गई है ।

यहाँ मेधा की प्रार्थना भी है एवं मेधा से ही ब्रह्म को ढका हुआ भी कहा है । अतः दो प्रकार की मेधा का प्रतिपादन है । अग्रिम शान्ति मंत्र में प्रथम मेधा को स्पष्ट ही 'सुमेधा' शब्द से कहेंगे । लौकिक मेधा या प्रज्ञा से ब्रह्म ढका रहता है क्योंकि उसका विषय नामरूपकर्म है । सुमेधा से ब्रह्म का साक्षात्कार है क्योंकि उसका विषय साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म ही है । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया' (क० २·२३) में श्रुति लौकिक प्रज्ञा को ही कहती है । 'मेधा-महं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्टुताम्' (अ० ६) में ब्रह्मयुक्त अर्थात् ब्रह्म को विषय करने वाली एवं ब्रह्म से या वेद से सेवित और ऋषियों से स्तुत मेधा को ही प्रथम या मुख्य मेधा कहा गया है । यही सुमेधा है । इस सुमेधा के बल से ही 'मेधा देवी जुषमाणा न आगाद् विश्वाची भद्रा सुमनस्यमाना । त्वया जुष्टा जुषमाणा दुरुक्तान् बृहद्-देम ।' (तै० आ० १०) जो सभी विश्व को विषय करने वाली होने से सर्वप्रकाशिका, कल्याणस्वरूपा, अनुग्रह करने वाली एवं हमसे प्रीतियुक्ता है, हम मोक्ष के अनुपयोगी दुरुक्त वचनों को छोड़कर ब्रह्म के प्रकाशक शब्दों में लग सकते हैं । 'ब्रह्म मेधया' (तै० आ० १०) से स्पष्ट ही ब्रह्म की मेधा से प्राप्ति वेद ने प्रतिपादित की है ।

वस्तुतः वेद भी शब्द राशि है । परमशिव मन, वाणी आदि का विषय नहीं है । अतः वेद-धारणा या वेद से उसकी प्राप्ति असंभव है । तथापि वेद और वेदज्ञ के उपदेश से ही ब्रह्मज्ञान संभव है । अतः उसमें वेदविषयता स्वीकारनी ही पड़ती है । जिस प्रकार मन उसको विषय नहीं कर सकता तथापि मन से ही उसका ज्ञान संभव है वैसे ही यहाँ समझना चाहिए । इसीलिए मेधा आदि से उसे अलभ्य बताकर अग्रिम मंत्र में ही 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम' इन्हीं उपायों से यत्न करने वाले विचक्षण बुद्धिमान की आत्मा ही ब्रह्म से अभेदानुभव करती है यह स्पष्ट कर दिया है ।

भगवान शंकर ने एक बार भगवती काली को हँसी में काले रंग की कह दिया । भगवती ने पति को अप्रिय लगने वाले शरीर को परिवर्तन करने के लिये ब्रह्मा को निमित्त बना तपस्या की । ब्रह्मा ने प्रकट होकर कहा 'माता ! स्वयं संकल्प से सभी करने की सामर्थ्य वाली हो । मुझे गौरव ही देना था तो आज्ञा कर देतीं । मेरे निमित्त आपको तपस्या करना शोभा नहीं देता ।' भगवती ने कहा 'शिव से साक्षात् गोरा रंग मांगना अनुचित है । मेरा सभी कुछ उनका है अतः संकल्प करना भी ठीक नहीं । संकल्प करने वाला मन तो सदा उनमें लीन है । तुम पुत्र हो अतः आज्ञा दे सकती थी पर पिता से बिना पूछे तुम उसे उचित न समझते । अतः तुम्हें याद मात्र किया ।' उधर शंकर पार्वती के विरह में महादुःखी थे । ब्रह्मा ने शीघ्र ही काली त्वचा को दूर कर दिया जो संहारिका शक्ति रूप में रह गयी । भगवती गौरी शंकर के पास गईं तो उन्होंने कहा 'अरे ! हँसी में तुम इतना बुरा मान गईं ।' इस कथा में मेधा का ही वर्णन है । जब सृष्टि को विषय करते हैं तो ब्रह्म की शक्ति काली है क्योंकि अज्ञान से आवृत मेधा ही नामरूपकर्मात्मक जगत् को विषय करती है । मुमुक्षा काल में वैराग्य वर्णन के द्वारा उस अज्ञान रंग की हंसी है । इस पर वेदरूपी ब्रह्मा की सहायता से अपने अज्ञान रूपी त्वचा को हटाकर उमा हैमवती ब्रह्मविद्या रूप से पुनः शंकर के पास चली जाती हैं ।

अज्ञान की काली त्वचा अब प्रारब्ध वेग से संसार में व्यवहार करे। वस्तुतस्तु शिव की दृष्टि में काली व गौरी अभिन्न हैं। ब्रह्म दृष्टि में सृष्टि और मोक्ष दोनों समान हैं। केवल हँसी से ही दोनों का भेद सा मान लिया जाता है। सर्प प्रतीति काल में एवं रज्जु प्रतीति काल में रज्जु समान ही है। इस प्रकार मेधा एक होने पर भी सुमेधा व दुर्मेधा का भेद समझना चाहिये।

स्वयंप्रकाश स्वरूप होने से ही सदाशिव को देव कहा जाता है। सूर्य चन्द्रादि को लोक में स्वयं प्रकाश मानते हैं। परन्तु ब्रह्म वैसा जड़प्रकाश, जो स्वाभिव्यक्ति के लिये चेतनप्रकाश की अपेक्षा रखता हो, नहीं है कहने के लिये ही उसे महादेव कहा जाता है। विषयों का प्रकाशक इन्द्रियसमूह, इन्द्रियों का प्रकाशक अन्तःकरण, उसका भी प्रकाशक उपाधिविशिष्ट चेतन एवं उसका प्रकाशक शुद्ध चेतन इस परम्परा में शुद्ध चेतन ही अन्याधीन प्रकाश वाला न होने से महादेव है। उस शुद्ध चैतन्य के अपरोक्षाभेदानुभवार्थ उसी से प्रार्थना होने की उचितता से यहाँ देव सम्बोधन है। उस महादेव की कृपा से ही अमृतत्व के कारण ब्रह्मज्ञान का धारण संभव है। भाष्यकार भगवान् शंकर 'अन्यत्यागेन आत्मलाभप्रार्थनैव आत्मलाभसाधनम्' (मु० भा०) कहकर अन्य सब छोड़कर केवल आत्मा के दर्शन की प्रार्थना से ही उसके प्राप्ति की संभावना बताते हैं। महादेव से ज्ञान की प्रार्थना करने पर वे अवश्य ही कृपा करते हैं यह निगमागमानुभव सिद्ध है। केवल स्वपुरुषार्थ से आत्मज्ञान की धारणा असंभव ही है। आज कल प्रायः वेदान्त के अध्येता इस विषय को न समझने के कारण निरन्तर प्रश्न करते हैं कि समझने पर भी, जिसे वे तो ज्ञान होने पर भी कह देते हैं, हमारी स्थिति क्यों नहीं होती। यहाँ स्वयं वेद ने ही धारणा का वास्तविक साधन निर्दिष्ट कर दिया है।

यदि अमृत का अर्थ ब्रह्म ही कर लिया जाय तो अमृत की धारणा या ब्रह्मनिष्ठा वाला बनना भी यहाँ विवक्षित हो सकता है। अथवा अमृत अर्थात् मोक्ष अतः तीव्रतम मुमुक्षा प्राप्ति रूप अमृत की धारणा

की प्रार्थना भी यहाँ संभव है। मुमुक्षा की मंदता में वैराग्य आदि की मंदता कारण होने से वे भी स्वतः प्रार्थना के विषय बन जाते हैं यह तो सुस्पष्ट है।

रोगी व्यक्ति के लिये कोई भी साधना कष्टसाध्य होती है। अधिक कष्ट होने से चित्त की एकाग्रता असंभव है। अतः यहाँ शरीर की साधनयोग्यता सदाशिव से साधक मांगता है। आगे के शांति मंत्रों में तो और भी विस्तार से विद्या के अभ्यास के योग्य कार्यकरण-संघात की प्रार्थना की जायगी। अनेक साधक प्रारम्भ में गैरसमझी के कारण देहाध्यास के स्वरूप को गलत समझ कर शरीर की तरफ ध्यान नहीं देते जिसके फलस्वरूप आगे की साधना के योग्य नहीं रहते। इस प्रकार के तामस तप की श्रीकृष्ण ने स्पष्ट निन्दा की है। अतः शरीर को नीरोग रखना भी साधना का अंग है। दूसरी तरफ कुछ लोग शरीर को ठीक रखने की चिन्ता में इसी के पोषण में व्यस्त बने रहते हैं। इतना ही नहीं गरिष्ठ भोजनादि से स्थूल होकर साधना के लायक नहीं रह जाते। अतः दोनों तरफ से संभल कर साधन करना आवश्यक है।

वैदिक धर्म में वाणी को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। मीठा बोलना वैदिक धर्म में सत्य के जितना ही जरूरी माना गया है। आचार्य पुष्पदन्त तो वेद को शिव की मधु-भरी वाणी ही बताते हैं। मनु 'प्रियं ब्रूयात्' की विधि करते हैं। विश्व में शान्ति, सुख और मधुरता की अभिवृद्धि में वाणी का प्रधान स्थल है। इस रहस्य को भूलकर भारतीय अपने जीवन को अशान्त और दुःखी बनाते जा रहे हैं। वैदिक धर्मावलम्बी हमेशा धीरे बोलेगा, हल्ला मचाकर नहीं। गाली देना तो निषिद्ध है, शाप तो पाप का जनक ही है, पर कटुवचन भी अशुभ है। संस्कृत में गालियाँ नहीं के बराबर ही हैं। मधुर कण्ठ के साथ विषय व शब्द चयन भी मधुर होना आवश्यक है। वेद की माधुरी विषय से है। जीव के परम कल्याण के लिये ही वेद है। पर शब्द चयन भी इतना मधुर है कि आज के पाश्चात्य समालोचक भी उसकी

कवित्व अभिव्यंजना पर मुग्ध हो जाते हैं। प्रायः सारा ही वेद गेय है। समग्र विश्व के धार्मिक साहित्य में यह मधुरिमा असंभव है। ब्रह्म को भी श्रुति मधु कहती है एवं वेद भी मधु कहा गया है। अतः यहाँ शिवविषयिणी वाणी या वेदस्वाध्याय की प्रार्थना भी है। वस्तुतः सत्य, हित, मित, प्रिय बोलने से ही वाणी वेदाभ्यास में पटु होती है। यहाँ साधन व साध्य दोनों का निर्देश है।

यद्यपि 'न बहुना श्रुतेन' से श्रुति अधिक सुनने मात्र से ब्रह्म प्राप्ति असंभव बताती है तथापि 'श्रोतव्य' से श्रवण की विधि भी करती है। सुनने मात्र से नहीं होता, उसका जीवन में आचरण आवश्यक होता है। अतः 'असकृद् उपदेशात्' (ब्र० सू० ४·१·१) से भगवान् बादरायण बहु श्रवण का विधान करते हैं। यहाँ भी बहुत अर्थात् वैदिक एवं शिवसम्बन्धी वार्ता श्रवण होने की प्रार्थना ही समझनी चाहिये। 'अन्या वाचो विमुंचथ' (मुं० २·२·५) अन्य अर्थात् ब्रह्मविद्योत्पादक वाणी से भिन्न वाणी का त्याग विहित है। ब्रह्मविद्या के पोषक वाक्यों को खूब सुनें। तात्पर्य है कि हमारा सारा कार्यकरण संघात शिव प्राप्ति में लगा रहे।

यद्यपि ॐ ध्वनि होने से जड़शब्द ही है तथापि उसको इन्द्र, देव पदों से युक्त करके वेद ने उसकी चेतन ईश्वर से अभिन्नता बताई। ॐ को ही चुनने का कारण है कि वही ब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। नाम ही किसी पदार्थ का सर्वोत्तम प्रतीक होता है यह लोक सिद्ध है। ॐ परमशिव का साक्षात् नाम है। ॐ मानो ब्रह्म का कोश या शरीर है। जैसे किसी से मिलना उसके शरीर से मिलने से अभिन्न है वैसे ही ॐ का ध्यान व ब्रह्म का ध्यान एक ही चीज हैं। तलवार जैसे म्यान में रहती है वैसे ही ब्रह्म ॐ में स्थित है। जैसे म्यान तलवार का आलम्बन है वैसे ही सदाशिव के ध्यानार्थ ॐ आलम्बन है। ॐ में ही परमशिव ध्यान से मिलते हैं। प्रत्यक्ष या अनुमान से प्रतीति और प्रकार की होने पर भी निगम या आगम से अन्य प्रकार का विधान जिसमें किया जाय वह प्रतीक होता है। जैसे प्रतिमा पत्थर होने पर भी उसमें नारायण

के ध्यान का विधान है। आरोप्य प्रधानत्वेन इसे सम्पद् एवं आलम्बन-प्रधानत्वेन अध्यास कहा जाता है। ॐ की उपासना पंचीकरण, गौडपाद-कारिका, प्रपंचसार आदि ग्रन्थों से जाननी चाहिये।

यदि प्रणवोपासना इतनी श्रेष्ठ है तो सभी क्यों नहीं करते ऐसा संशय होने पर श्रुति कारण बताती है कि मेधा या लौकिक प्रज्ञा से इस उपासना का रहस्य ढका रहता है। संसार विषयक बुद्धि वालों को प्रणवोपासना का तत्त्व हमेशा अविदित रहता है। प्रणवोपासना शिव की उपासना है एवं लोग देवताओं, यक्षों, भूतों, बन्दरों, मनुष्यों आदि में शिव की अपेक्षा अधिक विश्वास रखते हैं। अतः ॐ ढका रहता है। किंच ॐ की उपासना से शिव को प्रसन्नता होती है पर आगे फल देने में वे स्वतंत्र हैं। अन्य मंत्रों या उपासनाओं में क्रिया प्रधान होने से फल साधक के मनोनुकूल ही होता है। परन्तु प्रणवोपासना से अनिष्ट संभव नहीं; दूसरी उपासनाएँ गलत किये जाने पर अनिष्ट भी कर सकती हैं। इष्ट या अनिष्ट यहाँ साधक की दृष्टि से नहीं वरन् वास्तविक दृष्टि से समझना चाहिये। जो साधक विषयों में आसक्त होगा उसको ॐ की उपासना अनिष्ट फलप्रद ही प्रतीत होगी। शिव की दृष्टि में आसक्ति की निवृत्ति ही सर्वाधिक इष्ट है अतः शिव को इष्ट मानकर विषयों में वैराग्यवान् ही प्रणवोपासना का अधिकारी है।

सुना हुआ वेदार्थ का रहस्य विस्मृत हो जाय तो परिश्रम व्यर्थ होता है। अतः उसकी रक्षा के लिये प्रार्थना स्वाभाविक है। श्रुत की रक्षा शिष्य हृदय में स्थापित करने से भी संभव है अतः विद्या वंश-परम्परा का अभिवर्धन भी यहाँ द्योतित है। श्रवण से जन्य आत्मा-नुभव, उपरति आदि भी श्रुत पद वाच्य हैं। अतः उस अनुभव, उपरति आदि का रक्षण भी यहाँ प्रार्थित है। उसकी प्राप्ति से हमारा रक्षण होता है एवं अविस्मृति से पालन होता है।

इस प्रकार इस मंत्र में ॐ से अभिन्न परमशिव से प्रार्थना एवं उपासना का प्रकार प्रतिपादित है।

चतुर्थ मंत्र

अहं वृक्षस्य रेरिवा, कीर्तिः पृष्ठं गिरेः इव ।
ऊर्ध्वपवित्रः वाजिनि इव सु अमृतं अस्मि ॥
द्रविणं सवर्चसम् सुमेधा अमृतोक्षितः ।
इति त्रिशंकोः वेदानुवचनम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (तैत्तिरीयोपनिषद् १·१०)

अहं	=मैं	सु	=शोभन
वृक्षस्य	=(संसार) वृक्ष का	अमृतं	=आत्मतत्त्व है
रेरिवा	=प्रेरण करने वाला हूँ।	अस्मि	=(वैसा ही) मैं हूँ।
कीर्तिः	=(मेरा) यश	सवर्चसं	=तेजस्वी
गिरेः	=पर्वत के	द्रविणं	=धन (हूँ)।
पृष्ठम्	=पीठ (चोटी)	सुमेधा	=शुभ मेधा वाला
इव	=की तरह (उँचा है।)	अमृतोक्षितः	=अमृत से सिक्त (हूँ)।
ऊर्ध्वपवित्रः	=(मेरा) कारण पवित्र (है)।	इति	=यह इतना
		त्रिशंकोः	=महर्षि त्रिशंकु का
वाजिनि	=सूर्य में	वेदानुवचनम्	=आत्मानुभव के बाद का कहना है।
इव	=जैसा		

तात्पर्य

प्रथम शान्ति से सामान्य प्रार्थना करके द्वितीय शान्ति से अध्ययन विषयक प्रार्थना की। अध्ययन शास्त्र के ग्रहण व धारण की शक्ति के बिना सफल नहीं होता अतः तृतीय शान्ति में मेधा एवं तदर्थ प्रयत्न योग्य शरीर इन्द्रियादि की प्रार्थना की गई। मेधा द्वारा जिस तत्त्व को

धारण करना है उसे चतुर्थ मंत्र से प्रतिपादित करते हैं। महापुरुषों के अनुभव में साधारणतः विश्वास शीघ्र जमता है अतः श्रुति महर्षि त्रिशंकु के अनुभव वाक्य से ही मोक्ष स्वरूप प्रतिपादन करती है। किंच अहंग्रहोपासना में 'अहं' घटित वाक्य बैठता भी सरलता से है। अतः श्रुति की आख्यायिका कल्पना सर्वथा युक्त है।

पूर्व मंत्र की तरह यह मंत्र भी स्वाध्याय के लिये विशेषतः विहित है। स्वाध्याय विद्योत्पत्ति के लिये होता है। अन्तःकरण की निर्मलता के लिये स्वाध्याय विशेष लाभप्रद है। इसके ऋषि त्रिशंकु हैं। परमात्मा देवता है। पंक्ति छन्द है। ब्रह्मभूत ब्रह्मविद् ऋषि का आत्मा की एकतानुभूति के बाद का यह आत्मविद्याप्रकाशक दर्शन है जो मंत्र में स्पष्ट है। जो विशेष योग्यता रहित हैं वे इसी मंत्र का जप एवं अर्थानुसन्धान करके विद्या प्राप्त कर सकते हैं। श्रद्धालु होने पर भी प्रज्ञा की मन्दता या गुरु की अनुपलब्धि आदि ही विशेष योग्यता से रहितता है।

अहं जीव का नहीं वरन् जीव में स्थित शिव का नाम है। इसीलिये 'अहं' को सभी जीव अपना नाम बताकर 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' को ही प्रत्यक्षानुभूति से प्रमाणित करते हैं। अ से ह तक सारी वर्णमाला हो जाती है। अतः सर्व वाक्प्रपंच इससे बता दिया। वस्तुतः अर्थप्रपंच व शब्दप्रपंच में सारा प्रपंच आ जाता है। अर्थ प्रपंच वाच्य है अतः व्याप्य है एवं शब्द प्रपंच वाचक होने से व्यापक है। 'अहमेवेदं सर्व' (छा० ७·२५) से स्पष्ट ही वेद अहं को सर्वव्यापक बताता है। जिस प्रकार मछुआ एक रस्सी में सारे तन्तुओं को इस प्रकार बांधता है कि उसके खींचने पर सारा जाल खिंच जाता है उसी प्रकार सारे अनुभव आदि अहं में अनुस्यूत हैं एवं अहं के खींचने पर सारे वासना, अभिज्ञा, प्राण आदि तन्तु खींच लिये जाते हैं। अहङ्कारात्मिका वृत्ति जड़ है अतः उसके साथ तादात्म्य करके परिच्छिन्नता आदि का अनुभव होता है। भगवान सुरेश्वराचार्य इसीलिये निर्विकल्प, शुद्ध और मलिन भेद से अहं तीन प्रकार का स्वीकारते हैं। 'अहमित्यैश्वरं भावं यदा जीवः

प्रबुध्यते । सर्वज्ञः सर्वकर्ता च तदा जीवो भविष्यति ।।' (मा० ४) जब जीव ईश्वर से ऐक्यानुभूति करता है तब सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता हो जाता है । प्रतर्दनाधिकरण न्याय से जैसे कौषीतकी ब्राह्मण में अहं का अर्थ विशुद्ध अहंता है या गीता में कृष्ण के अहं पद का अर्थ विशुद्ध अहंता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये । यद्यपि श्रद्धालु प्रज्ञा-मान्द्यादि दोष से विशेष वेदाध्ययन करने में समर्थ न हो तथापि ज्ञान स्वाध्याय के ही अधीन होने से इस मंत्र का स्वाध्याय तो आवश्यक है ही एवं इसके अहं को समझना ही इसका रहस्य समझना है । आगे के सभी विशेषण पद अहं विशेष्य को स्पष्ट करके परिच्छिन्न अहं से अलग करने में ही गतार्थ हैं ।

वृश्च धातु छेदन अर्थ वाला है । उससे बनने वाले वृक्ष शब्द का अर्थ उच्छेदरूप है । संसार उच्छेदरूप होने से ही वृक्ष शब्द से लक्षित होता है । तत्त्वज्ञान से उच्छेद्य होने से संसार वृक्ष रूप है । भगवान शंकर इसे स्पष्ट ही 'दृष्टनष्टस्वरूपत्वाद् अवसाने च वृक्षवद् अभावात्मकः' (का० भा०) कहकर वृक्ष की तरह नष्ट होने वाला होने से ही इसे वृक्ष की उपमा वाला बताते हैं । वेदों में प्रतिपाद्य परमशिव ही इसका मूल व सार है । अविद्या, कामना, कर्म एवं अव्यक्त रूपी बीज से ही यह पैदा होता है । सदाशिव की ज्ञानशक्ति व क्रिया शक्ति रूप हिरण्यगर्भ ही संसार वृक्ष का अंकुर है । सभी प्राणियों के लिंगों की अर्थात् पुर्यष्टक की भिन्नता ही तने हैं । तृष्णारूपी जल से इसका सिंचाव होता है । शब्दादि विषय ही किसलय हैं । श्रुति, स्मृति, युक्ति, उपासना, उपदेश ही पत्ते हैं । यज्ञ, दान, तप, आचार आदि अनेक फूल हैं । सुख, दुःख, प्राणि वेदना आदि अनेक रस हैं । ब्रह्मा, विष्णु से कीट, पतंग आदि तक सभी के घोंसले वाला है । नाच, गान, बाजे, खेल, ताल ठोंकना, रोना, हँसना, छोड़, पकड़, रगड़, मार आदि शब्दों से गूंज रहा है । वेदान्तों में प्रतिपाद्य ब्रह्मात्म दर्शन ही एक मात्र कुल्हाड़ी इस वृक्ष को काटने में समर्थ है । यह सारा ही वृक्ष जिस अन्तर्यामी से प्रेरित है वही मैं हूँ ऐसा त्रिशंकु का अनुभव है एवं

साधक को इसी प्रकार से स्वयं को अन्तर्यामी रूप से जानना चाहिए । इसीलिए ऋग्वेद में भी 'अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया । गृभ्णन्ति जिह्वया ससम् ।।' (८·७२) भगवान रुद्र को अपने अन्दर या अन्तर्यामी रूप से ही इष्ट बनाने का आदेश है । एवं पुनः उसी को 'जने' अर्थात् सभी प्राणिसमुदायों के भीतर जानने का विधान है । वही जीवन्मुक्त जिन्होंने मनीषा से इसका साक्षादनुभव किया है फिर उस पूर्णानन्द रस (सस) का जीभ से अर्थात् सभी बाह्य एवं अन्तः इन्द्रियों से आस्वादन करते हैं । भगवान् पराशर 'अन्तरिच्छति यो रुद्रं सदा वन्द्यं मनीषया । गृह्णाति जिह्वया सोयं रसं पूर्णमृतोपमम् ।।' से अपनी स्मृति में इसी श्रुति का अनुवाद करते हैं । इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में अन्तर्यामि ब्राह्मण भी सदाशिव का अन्तर्यामी रूप से स्वयं आत्मा से अभेदानुसन्धान का विधान करता है । इसी प्रकार इस शान्ति मंत्र में भी संसार वृक्ष का प्रेरक रूप से ध्यान बताया है । यद्यपि रेरिवा का छेदन या नष्ट करने वाला अर्थ भी है । परन्तु संसार वृक्ष का नाशक ब्रह्म नहीं वरन् ब्रह्माकारावृत्ति है अतः उपर्युक्त श्रुतियों के आधार से भगवान भाष्यकार ने विशुद्ध निर्विकल्प अहं के साथ प्रेरक का तादात्म्य बताया । नाशक अर्थ में भी वृत्ति में उपारूढ़ चैतन्य से ही अभेद मानना पड़ेगा अतः अर्थ में भेद नहीं आयगा । परन्तु गौरव दोष की संभावना हो सकती है अतः भाष्यार्थ ही अधिक मान्य है ।

चूंकि मैं शिव से अभिन्न हूँ अतः मेरा यश सर्वोत्कृष्ट है । देवलोक, ब्रह्मलोक आदि में भी प्रसिद्ध होने से ही सर्वोत्कृष्टता है । 'सर्वा दिशो बलि अस्मै हरन्ति' (छा० २·२१) से सामवेद सब दिशाओं वाले इसको भोग भेंट देते हैं कहकर इसी कीर्ति का रूप बताता है । 'आत्मपरोक्षं विश्रुत्वं कीर्तिः' (छाभा०) से यहाँ मुंह पर की हुई झूठी प्रशंसा इष्ट नहीं है यह प्रतिपादित है ।

ज्ञान से प्रकाश्य परब्रह्म ही मेरा कारण है क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ । परब्रह्म सभी पापों के मूल अज्ञान का स्पर्श भी नहीं करता अतः वह पवित्र है । उससे सम्बन्ध वाली विद्या भी 'राजविद्या राजगुह्य

पवित्रं इदं उत्तमम्' से पूततम कही गई है। अतः अज्ञान से अस्पृष्ट ब्रह्म कारण वाला होने से अहं भी पवित्रतम है ऐसी भावना कर्तव्य है।

वाजिन् अर्थात् सूर्य। वेदों में सूर्य देवता का शुद्ध आत्मतत्त्व रूप से वर्णन किया है। 'आदित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति' से सामवेद इसी बात का प्रतिपादन करता है। 'यश्चासावादित्ये स' से तैत्तिरीय शाखा भी उसके ईश्वरत्व का प्रतिपादन करती है। अतः सविता में अमृत या आत्मतत्त्व जैसा वेदों में निर्मल रूप से प्रसिद्ध है वैसा ही निर्मलात्मा मैं हूँ कहकर अपने आत्मा का 'सु'-रूप प्रतिपादित किया गया है।

वाजी यजुर्वेद की वाजशाखा अध्ययन करने वाले को या तत्प्रवर्तक आचार्य याज्ञवल्क्य को भी कह सकते हैं। अतः वाजसनेयी शाखा में प्रतिपादित जो शुद्ध आत्मस्वरूप है वही मैं हूँ। वाजशाखा के बृहदारण्यक में आत्मतत्त्व का प्रतिपादन सर्वोत्तम रूप से है यह वेदान्तशास्त्रज्ञों का उद्घोष है। अथवा जैसा आत्मतत्व निर्मल रूप से याज्ञवल्क्य में था या उनका ज्ञान जैसा विशुद्ध था वैसा ही मेरा है यह भाव है।

वाज अन्न को भी कहते हैं। अतः वाज या अन्न वाला वाजी होगा। जिसका ऊर्ध्वमानस पवित्र हो वह ऊर्ध्वपवित्र होगा। अतः ऐसा पवित्र व्यक्ति अन्नदान के द्वारा जैसी निर्मल कीर्ति को पाता है वैसी मेरी कीर्ति है ऐसा पूर्व के साथ सम्बन्ध भी संभव है। तब सु या निर्मल अमृत या मोक्षस्वरूप मैं हूँ; अथवा देश काल व वस्तु परिच्छेद से शून्य मैं हूँ यह भाव स्वमृतमस्मि का होता है।

वाज अर्थात् घोड़ा; अतः घोड़ा सम्बन्धी अश्वमेध यज्ञ जो सर्वाधिक पवित्र है जिस प्रकार सातिशय लोकों में सबसे अधिक फलप्रद है एवं कीर्ति कारक है उसी प्रकार मैं निरतिशय आनन्द एवं नित्य हूँ तथा मेरी कीर्ति भी उतनी ही उत्तम है।

वाज अर्थात् वीर्य। जिस प्रकार वीर्य ऊर्ध्व गमन करके पवित्रतम अमृत हो जाता है अतः सहस्रारस्थ शिव के चढ़ जाता है उसी प्रकार मैं भी अमृत हूँ। मेरा भी शिव से तादात्म्य हो चुका है। वाजसन भगवान सदाशिव का नाम है ही। अतः सदाशिव के समान मैं ऊर्ध्वरेता होने से निरतिशय अमृतरूप हूँ। सूर्य अर्थ लेने पर भी वह शिव की अष्टमूर्तियों में से एक होने से यही अर्थ आ जाता है।

अतः सूर्योपासना, वेदस्वाध्याय, अन्नदान, अश्वमेध एवं कुण्डलिनी योग इस मंत्र में बता दिया है। ये सभी एकशः या मिलकर शिवात्मैक्य ज्ञान कराने में समर्थ हैं। वाज √वज् वेगे से निष्पन्न होने से वाजी का गति तो प्रसिद्ध अर्थ है ही। अतः गतिमान् की तरह मैं निर्मल एवं त्रिविधपरिच्छेदशून्य हूँ। सर्वाधिक गतिमान् तो 'मनसो जवीयः' से श्रुति आत्मा को ही प्रतिपादित करती है। अतः आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निर्देश तो हर हालत में है। उत्कृष्ट निर्मलता होने से आत्माभिन्नता स्पष्ट है।

संसारी लोग जमीन जायदाद को धन मानते हैं। वस्तुतः सुख साधन ही धन कहा जाता है। धन इस लोक में सुख देता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। शुभ कर्म में विनियुक्त होकर परलोक में भी सुख का कारण बनता है ऐसा श्रुति सिद्ध है। परन्तु लौकिक धन से उत्पन्न सुख सदा ही सातिशय होता है। अतः निरतिशय सुख का हेतु ब्रह्मज्ञान ही सच्चा धन माना जा सकता है। आत्मतत्व का प्रकाशक होने से इसे वर्चः वाला या तेजस्वी कहा गया।

अथवा प्रतिबद्ध ब्रह्मज्ञान एवं अप्रतिबद्ध ब्रह्मज्ञान का भेद होने से वीर्यवान् जो अप्रतिबद्धता उसे सवर्चः शब्द से कह दिया। अर्थात् मैंने संशय विपर्यय आदि दोषों से रहित तेजस्वी ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लिया। जो अनादि अज्ञान को क्षणमात्र में जला डाले उसकी तेजस्विता का क्या कहना?

√वर्च् चमकने से निष्पन्न वर्चः शब्द बिजली की तरह चमकने

वाली कुण्डलिनी अर्थ वाला भी है। √द्रु बहने से बने हुए द्रविण शब्द में सहस्रार से बहने वाले अमृतस्राव को एवं उसके केन्द्र सोम को बताया है। अतः सोम व कुण्डलिनी के संयोग को मैंने प्राप्त कर लिया है यह भाव है। आगे अमृतोक्षितः से इसे और स्पष्ट रूप से स्वयं श्रुति कहती है। अथवा कुण्डलिनी सहित सदाशिव रूप मैं हूँ। मैं ही ब्रह्मरूपी धन एवं सर्व प्रकाशक आत्मतत्व भी हूँ। ब्रह्म आत्मा-रूप से ही प्रकाशक है।

सर्वज्ञ लक्षण वाली मेधा सुमेधा है। भगवान भाष्यकार शंकर स्पष्ट कहते हैं कि 'संसार-स्थित्य्-उत्पत्ति-संहार-कौशल-योगात्' संसार की उत्पत्ति, रक्षा व संहार की कुशलता का सम्बन्ध इस मेधा से होने से ही इसे सुमेधा कहा जाता है। ऐसी सुमेधा वाला मैं हूँ ऐसा अनुभव आत्मज्ञ का है। साधक की दृष्टि से तो ग्रन्थावधारण एवं तदर्थज्ञता ही सुमेधा है।

वस्तुतस्तु कुण्डलिनी को भी मेधा कहा जाता है क्योंकि 'मेधते आलिंगति संगच्छते' जो आलिंगन और संगमन करे वही मेधा है। कुण्डलिनी ही परमशिव का आलिंगन करके उसके साथ संगमन करने से मेधा है। परमशिव प्रतिपादक निगमागम को विषय करने से शास्त्र धारण सामर्थ्य भी मेधा शब्द वाच्य हो जाता है। इसीलिये वेद कहता है 'आ मां मेधा सुरभिः विश्वरूपा हिरण्यवर्णा जगती जगम्या। ऊर्ज-स्वती पयसा पिन्वमाना सा मां मेधा सुप्रतीका जुषताम् ॥' (तै० आ० १०) जो मेधा या सदाशिव की शक्ति है वही सुरभि (सु √रभ्) अर्थात् मनोहर है या 'सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्' 'गन्धद्वारां' आदि वेद मंत्रों से प्रतिपाद्य होने से उनसे सदा आलिंगित है। वही माहेश्वरी शक्ति सर्वरूपों को धारण करने से विश्वरूपा है। जीवात्मा की बुद्धि भी सभी वृत्तियों का रूप धारने से विश्वरूपा है। षट् चक्रों में सभी अक्षर कुण्डलिनी के संबंध से स्वर्ण की तरह चमकने से वह हिरण्यवर्णा है। अथवा पारमेश्वरी शक्ति श्रुति रूप को धारण करके हित व रमणीय वर्णों वाली बन जाती है। हितकारी व रमणीय सदाशिव का वरण

करने के कारण भी वह हिरण्यवर्णा है। निरंतर गमनशीला होने से जगती है। बार बार सहस्रार में जाकर पुनः लौटती है; इसीलिये बार बार ऊपर ले जाने के योग्य जगम्या है। अथवा माहेश्वरी सर्वदा प्राप्त करने के योग्य है। पुरुषार्थियों को इसी के लिये प्रवृत्ति निवृत्ति करना योग्य है। वह अत्यन्त रसीली होने से ऊर्जस्वती है। सारे रस उसी में हैं। सारे भोग्य पदार्थों से उसमें आनन्द की अधिकता है। शिव को महेश्वरी में ही आनन्द होने से परमशिवदृङ्मात्रविषयता बनती है। ऊर्जस्वती का अर्थ बलवाली भी होता है। शंकरी का बल ही तो वास्तविक बल है। सप्तशती में इसका विस्तृत वर्णन है। कुंडलिनी ही जीव की शक्ति है एवं जीव को अमृतस्राव के द्वारा परमानन्द देती है। यही उसका दूध से सींचना है। ऐसी वह सुन्दर प्रतीक वाली या शुभ प्रारम्भ वाली सर्वदा हमारा सेवन करे अर्थात् हमारे साथ रहे। इस प्रकार प्रतिपादित यह मेधा ही सुमेधा है। इसके स्राव से होने वाले अमृत से मैं सिक्त हूँ अर्थात् प्रतिक्षण मैं इसके रसास्वाद में मग्न हूँ। अथवा 'अमृतः अक्षितः' ऐसा पदच्छेद समझना चाहिये। तब मैं ही नाशरहित कभी क्षीण न होने वाला अव्यय हूँ ऐसा अभिप्राय होगा। अर्थात् निरन्तर बहने पर भी कभी नष्ट न होने वाला सोमरस हूँ।

ब्रह्मभाव को प्राप्त करके ब्रह्मरूप होने वाले का अनुभव बताने में श्रुति का तात्पर्य है कि साधक ऐसी भावना करे एवं ज्ञानी अपने अनुभूति की पूर्णता इससे जांच ले। इससे त्रिशंकु की कृतकृत्यता का स्थापन है। शंकु अर्थात् द्वादशांगुल। मूलाधार से सहस्रार तक जो एक जैसा रहता है वह त्रिशंकु है। मूलाधार से सहस्रार तक का नाप तीन शंकु ही होता है। अथवा मल आवरण व विक्षेप रूपी तीन खूंटे या ब्रह्म-विष्णु-रुद्र ग्रन्थियाँ या आणव, मायिक, कर्मज तीन मल अथवा स्थूल, सूक्ष्म व कारण तीन शरीर वाला जीव त्रिशंकु है। त्रिविधताप युक्त भी त्रिशंकु पद का वाच्य होता है। यहाँ भूतपूर्वगत्या त्रिशंकु शब्द का प्रयोग है। जो पहले जीव था यह भाव है। इसका तात्पर्य

है कि पूर्व में भी साधक जीव इस ब्रह्मभाव को प्राप्त हो चुके हैं। अतः साधक को साहस देने में इस प्रकार के अनुभव वचन की गतार्थता है।

वेद के अनुकूल वचन भी वेदानुवचन कहा जाता है। अतः त्रिशंकु का यह वचन वेदानुकूल होने से ग्राह्य है। इसके द्वारा यह ध्वनि है कि कोई भी अनुभव वाक्य वेदविरुद्ध होने पर अप्रमाण है। मध्यकालीन सन्त परम्परा का वेदनिरपेक्ष अनुभव प्रामाण्य मान्य नहीं हो सकता यह स्पष्ट है। अनुभूतियों के विरुद्ध होने पर उनमें किसे ठीक माना जाय इसका एक हल तो युक्ति विरोधी समन्वयवाद का है कि सभी प्रमाण माने जावें। समन्वय एक देशी उनमें तारतम्य मानते हैं। तारतम्यता उनके स्वनिश्चित मापदण्डों से है जो स्वयं अप्रमाणित हैं। सभी को समान प्रमाण मानना भी वस्तुतः सत्यान्वेषी के लिये असंभव है। सूर्य को अन्धकार और प्रकाश उभय रूप मानना असंभव है। कुछ समन्वयवादी बहुमत की दुहाई देते हैं। पर अनेक ग्रामीणों की अपेक्षा एक आइन्स्टाइन अधिक प्रमाण है। अथवा रूप के विषय में असंख्य अन्धों की अपेक्षा एक चक्षुमान् अधिक प्रमाण होता है। केवल तर्क के बल से प्रत्यक्ष व अनुमान के अविषय ब्रह्म का अनुभव नहीं जांचा जा सकता। अतः ब्रह्म श्रुति का विषय होने से ब्रह्मानुभूति की श्रौत तर्क से ही परीक्षा संभव है। श्रौत तर्क के अनुकूल वचन वेदानुवचन होने से प्रमाण होता है। यह भाव यहाँ प्रतिपादित है।

पञ्चम मंत्र

ॐ पूर्णं अदः पूर्णं इदं पूर्णात् पूर्णं उदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (शतपथ ब्राह्मण खिलकाण्ड)

अदः	= वह (निरुपाधिक ब्रह्म)	उदच्यते	= बाहिर आता है।
पूर्णम्	= पूर्ण (है)।	पूर्णस्य	= पूर्णका
इदं	= यह (सोपाधिक ब्रह्म)	पूर्णम्	= पूर्ण
पूर्णं	= पूर्ण (है)।	आदाय	= लेकर (निकाल कर)
पूर्णात्	= पूर्ण से	पूर्णं	= पूर्ण
पूर्णम्	= पूर्ण	एव	= ही
		अवशिष्यते	= बच जाता है।

तात्पर्य

यह वाजसनेयि शाखा का शान्ति मंत्र है। जिस ब्रह्म का अनुभव प्रकार पूर्व शान्ति में प्रतिपादित किया उसका स्वरूप वर्णन इस मंत्र में करते हैं। वेद के अति गम्भीर मंत्रों में से यह मंत्र है। भगवान शंकर तो स्पष्ट कहते हैं कि 'यः सर्वोपनिषदर्थो ब्रह्म स एषोनेन मन्त्रेणानूद्यते' जो सारे उपनिषदों का प्रतिपाद्य ब्रह्म है वही इस मंत्र से कहा जा रहा है। अतः इस मंत्र का विचार कर्तव्य है। सारे उपनिषदों का सार इसमें आ जायगा।

जो कहीं से भी, कभी भी एवं किसी से भी अलग न हो वह व्यापक ही पूर्ण कहा जाता है। 'अदसस्तु विप्रकृष्टे' अदः शब्द परोक्ष अर्थ का

प्रतिपादक सर्वनाम है । अतः यह परब्रह्म का वाचक है । तत्पदार्थ का लक्ष्य होना ही वाच्य होना है । आकाश की तरह निरुपाधिक निर्मल ब्रह्म पूर्ण है । वही ब्रह्म पुनः सोपाधिक अर्थात् नामरूपकर्म में स्थित भी पूर्ण ही है । स्वस्वरूप से परमात्मारूप है एवं परमात्मा व्यापी है । उपाधिपरिच्छिन्न विशेष रूप से इसकी पूर्णता का प्रतिपादन नहीं है । तात्पर्य है कि माया से कल्पना का अधिष्ठान होने मात्र से उसमें सोपाधिकता की कल्पना होने पर भी उसकी पूर्णता में कमी नहीं आती है । भगवान गौडपाद कहते हैं 'प्राणादिभिः अनन्तैः तु भावैः एतैः विकल्पितः' प्राणादि अनन्तभावों से वही आत्मा विकल्पित है । इदं शब्द अपरोक्ष अर्थ बताता है । प्राणादि कल्पनाएँ अज्ञानावस्था में प्रत्यक्ष हैं । यह विशेषभाव को प्राप्त हुआ कार्यरूप सोपाधिक ब्रह्म पूर्ण है एवं कारणरूप पूर्णरूप ब्रह्म से ही बाहिर आता है । कार्यरूप से बाहिर आने पर भी जो इसका स्वरूप है वह पूर्ण परमात्मा ही बना रहता है । कार्यरूप सोपाधिक परमात्मा की पूर्णता ग्रहण करके अर्थात् उसे जब विद्या से आत्मस्वरूप एकरसता को प्राप्त करा दिया जाता है तो अविद्याकृत भूतमात्र उपाधि के संसर्ग से जो अन्यथा की प्रतीति है उसका तिरस्कार हो जाता है । इस प्रकार तिरस्कृत होकर अनन्तर अबाह्य प्रज्ञानघन एकरस प्रपंचोपशम निर्मल शान्त शिव ही शेष रह जाता है जो भी पूर्ण है । तात्पर्य है कि कारण पूर्ण ब्रह्म परोक्ष है एवं वही नामरूप व्यवहार रूपी उपाधि से संयुक्त अविद्या से रंजित कार्य ब्रह्म प्रत्यक्षरूप से भासता है । परमार्थरूप से अन्य की तरह भासना ही उदच्यते से कहा जाता है । जिस प्रकार दर्पण में पूर्ण ही मुख भासता है एवं उसका कारण मुख भी पूर्ण ही है । पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति आविद्यक ही संभव होने से श्रुति ने ऐसी कल्पना का आश्रय लिया है ।

उत्पत्ति यहाँ जीव व जगत् दोनों की समझनी चाहिये । अतः अदः पूर्णं से तत्पदार्थ एवं इदं पूर्णं से त्वंपदार्थ का ग्रहण भी इष्ट है । पूर्ण चैतन्य ही अविद्या से जीव रूप से भासता है, पर उसकी चेतनता पूर्ण

ही है । उसी प्रकार जगत् के पदार्थों में सत्ता की पूर्णता ही रहती है । 'अहमेव परं ब्रह्म इति अस्य अर्थस्य अप्रबुद्धता अविद्या इति वयं ब्रूमः' से भगवान सुरेश्वर अहं को पर ब्रह्म रूप से न जानने मात्र को ही अविद्या कहते हैं । अतः तत्त्वमसि वाक्य के मनन सहित श्रवण मात्र से इसकी निवृत्ति होने पर अहं को निर्मल रूप से पूर्ण पर ब्रह्म जानकर अविद्याकृत नामरूपादि उपाधि के सम्पर्क से उत्पन्न अपूर्णरूपता का तिरस्कार करने पर परिपूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है । जगत् की पूर्णता ब्रह्म की पूर्णता से ही है । अतः सत्ता व चित्ता रूप से उसे पृथक् जान लेने पर जगत् व जीव का अस्तित्व नहीं रहता यह भाव है ।

पूर्णमदः एवं पूर्णमिदं से तत्पद व त्वंपद की लक्ष्यार्थों की एकता का निर्देश है । उत्पत्ति कथन से वाच्यार्थ कथन है । कारणात्मा परमेश्वर चूंकि अपनी पूर्णता का परित्याग नहीं कर सकता अतः पूर्ण ही भासित होते काल में भी रहता है । प्रकट होने में कार्यरूपता, अर्थात् पारमार्थिक स्वरूप से भिन्नवत् भासमानता, होने पर भी स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होता । इस कारण कार्य भाव की निवृत्ति ही तृतीय चरण से कही गई है । लक्ष्यों की एकता ही ज्ञान का फल है ।

वस्तुतस्तु पूर्ण पद अव्यावृत्त एवं अननुवृत्त अर्थ का ही प्रतिपादक होने से यह समग्र मंत्र उसी का व्याख्यान रूप है । जिस प्रकार लंगड़ा आदमी कहने से उसकी दूसरों से व्यावृत्ति हो जाती है तथा आदमी कहने से सभी मानवों में अनुवृत्ति हो जाती है उस प्रकार ब्रह्म या पूर्ण कहने से न किसी से उसकी व्यावृत्ति होती है और न उसकी किसी दूसरे में अनुवृत्ति ही होती है । द्वितीय होने पर ही व्यावृत्ति या अनुवृत्ति संभव है । पूर्ण पद से द्वितीय की अस्वीकृति है । एवं 'अद्वितीयम्' से वेद द्वितीय का स्पष्टतः निषेध करता है । उसमें न किसी का भेद, संसर्ग या अभाव ही संभव है । अविद्याकाल में जीवेश्वरजगद्रूप से भेद प्रतीत होता हुआ भी नहीं है । विद्याकाल में तो भेद प्रतीति भी नहीं है । द्वैत बुद्धि भ्रमरूप होने से ही वेद में निन्दित है ।

यद्यपि यह मंत्र 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते' इस वेदान्त प्रक्रिया का आलम्बन करके शुद्ध चिन्मात्र का प्रतिपादक है तथापि अन्य द्वैतवादी एवं उनके छद्मवेशी विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी आदि इसीसे ब्रह्म की दो रूपता एवं दोनों की पूर्णता आदि का प्रतिपादन करने का दुःसाहस कर अल्पमति साधक को पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनके मत में व्यवहार काल में प्रतीयमान द्वैत स्वरूप से स्वतः ही पूर्ण है। प्रलय काल में सभी द्वैत लीन होकर कारणरूप से पुनः पूर्ण ही रहेगा। इस प्रकार ब्रह्म ही संसाररूप में द्वैत है एवं प्रलयरूप में अद्वैत है। उनका दृष्टान्त प्रायः होता है कि जैसे समुद्र एवं उसकी लहरें दोनों ही परमार्थसत्यरूप से जल के ही रूप हैं वैसा ही यहाँ समझना चाहिये। उनका यह भी कहना है कि द्वैत को अविद्याजन्य मानने पर कर्मकाण्ड अप्रमाण हो जाता है। परन्तु वस्तुतः ब्रह्म के एक देश में द्वैत मानने पर तो वह विनाशी हो जायगा। सर्वथा द्वैत रूप में परिणत होने पर मुक्त की कौन सी स्थिति होगी एवं परब्रह्म भी विकारी होने से विनाशी ही सिद्ध होगा। श्रुतिविरोध तो स्पष्ट है ही। सावयव की नित्यता संभव नहीं। आत्मा की नित्यता तो स्मृति से माननी पड़ती है। प्रलयकालीन अद्वैत से द्वैतोत्पत्ति अकारण होने से जीवों एवं जगत् की भिन्नता बिना कारण होगी अतः अकृताभ्यागम रूपी दोष प्राप्त होगा। कर्म के बिना फलोत्पत्ति मानने से कर्मकाण्ड का अप्रामाण्य तो स्फुट ही है। प्रलय समय सभी जीवों का नाश होने से उनके कर्मों का भी नाश होगा। अतः कृतविप्रणाश के साथ कर्मकाण्ड की अप्रमाणता भी प्राप्त होगी ही। द्वैत की निन्दा वाले वचन भी संगत नहीं होंगे।

अद्वैत राद्धान्त में तो कर्मकाण्ड की प्रमाणता अविद्या काल में बनी ही रहती है। द्वैत सत्य हो यह आवश्यक नहीं। स्वप्नगत पिपासा या भूख मिटाने के लिये स्वप्नगत मिथ्या कूप जल या पेठा की ही आवश्यकता होती है। रागद्वेषवाले को इष्ट प्राप्ति व अनिष्टनिवृत्ति का उपाय बताकर रागद्वेषरहित को ब्रह्मविद्या का उपदेश श्रुति करती

है। स्वरूपस्थिति प्राप्त करने पर तो अनावश्यक होने से वेदप्रामाण्य-निवृत्ति ही इष्ट है। अतः इस मंत्र का विवर्तवाद के आश्रय से निर्मल परम शिव में जगत् जीव भाव का अध्यारोप करके उमा हैमवती ब्रह्मविद्या से अपवाद करने में ही तात्पर्य सिद्ध होता है।

षष्ठ मंत्र

ॐ आप्यायन्तु मम अङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रं
अथ उ बलम् ।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वम् ब्रह्म औपनिषदम् ॥
मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्
अनिराकरणं अस्तु अनिराकरणं मे अस्तु
तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु
ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (सामवेद)

मम	= मेरे
अङ्गानि	= अवयव
वाक्	= वाणी
प्राणः	= प्राण
चक्षुः	= आंखें
श्रोत्रं	= कान
अथ	= और
बलम्	= शक्ति
उ	= एवं
सर्वाणि	= सभी
इन्द्रियाणि	= इन्द्रियाँ
च	= भी
आप्यायन्तु	= उन्नत हों ।
सर्वं	= सब कुछ
औपनिषदम्	= उपनिषदों से जाना जाने वाला
ब्रह्म	= ब्रह्म (ही है) ।
अहं	= मैं
ब्रह्म	= ब्रह्म को
मा	= न
निराकुर्याम्	= तिरस्कृत करूं ।
ब्रह्म	= ब्रह्म
मा	= मत
मा	= मुझे
निराकरोत्	= तिरस्कृत करे ।
अनिराकरणं	= (हमारा) अपृथग्भाव
अस्तु	= हो ।

मे	= मेरा
अनिराकरणं	= अपृथग्भाव
अस्तु	= हो ।
तदात्मनि	= ब्रह्मरूप आत्मा में
निरते	= अतिशय रति करने वाले
मयि	= मुझ में
ये	= जो
उपनिषत्सु	= उपनिषदों में उक्त
धर्माः	= धर्म (हैं)
ते	= वे
सन्तु	= हों ।
ते	= वे (धर्म)
मयि	= मुझमें
सन्तु	= हों ।

तात्पर्य

यजुर्वेद के बाद सामवेद की शान्ति प्रारंभ करते हैं। तत्त्वज्ञान एवं तत्त्व का निरूपण हो गया। अब उस तत्त्वनिष्ठा प्राप्ति के लिये साधनों की प्रार्थना है। 'ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकारः तथापि संन्यास-निष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनम्' से जगदगुरु भाष्यकार भगवत्पाद स्पष्ट करते हैं कि किसी भी आश्रम में ज्ञान संभव है परन्तु संन्यासनिष्ठा के बिना वह ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन नहीं बनता। यह दूसरी बात है कि प्राप्त ज्ञान कालान्तर या जन्मान्तर में संन्यास से परिपक्व होकर मोक्ष का कारण बन जाता है अतः उसकी व्यर्थता कथमपि नहीं है। 'भैक्ष्यचर्यां चरन्तः' 'संन्यासयोगात्' 'त्यागेनैके' 'अत्याश्रमिभ्यः' 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' आदि सैंकड़ों श्रुतियों में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। उस संन्यासनिष्ठा के लिये ही यहाँ प्रार्थना है क्योंकि संन्यास धर्म पालन के लिये पुष्ट अंग व इन्द्रियाँ जरूरी हैं। कमजोर व्यक्ति के लिये संन्यास भयावह है। अतः इस प्रकरण में पुष्टि से तात्पर्य भोगार्थ पुष्टि न लेकर त्यागार्थ पुष्टि से है। अनुभव भी है कि पेट खराब होने पर जितना उसका चिन्तन चलता है उतना ठीक रहने पर नहीं। भिक्षा में कभी घी घना, 'कभी मुट्ठी चना' कभी वह भी मना' के न्याय से सभी अंगों की पुष्टि इष्ट होती है। अन्यथा वृत्ति की स्थिरता नहीं आ पाती। वैसे आप्यायन का अर्थ पूर्ण होना, मोटा होना, तगड़ा होना, रोबीला होना, सन्तुष्ट होना

आदि है। परन्तु उन्नत होने में ये सभी अर्थ आ जाते हैं। यहाँ ब्रह्मविद्या की पोषक उन्नति ही समझनी चाहिये।

अवयव अर्थात् हाथ, पैर आदि की पुष्टि। परिव्राजक धर्म में भ्रमण प्रधान है अतः पैर की पुष्टि भी इष्ट है। स्वयं अपना काम करना आवश्यक होने से हाथ की पुष्टि भी आवश्यक है। शीत आदि सहने के लिये अन्य अवयवों का तगड़ा होना भी जरूरी है। सभी अंग पूर्ण नहीं तो देह क्रिया में असम्यक्त्व आकर पराधीनता आ जाती है। इसी प्रकार वाणी की पुष्टि वेदान्त का जप, स्वाध्याय आदि में आवश्यक है। 'तत्कथनं' आदि से ब्रह्मानुसन्धान में सहायक होने से भी यह आवश्यक है। वाणी के बिना गूंगा तो गुरु से प्रश्नादि भी नहीं कर सकेगा। सभी व्यवहारों में वाणी प्रधान है। वाणी की उन्नति अर्थात् शुद्ध एवं मधुर तथा हित, मित व ऋत बोलने की सामर्थ्य में अभिवृद्धि होना। आंख के बिना रास्ता चलना आदि भी कठिन है। भोजनादि में शौच का पालन भी उसके बिना नहीं सधता। कान के बिना तो वेदान्तश्रवण ही संभव न होगा। अतः इनको गिना दिया। आगे सारी इन्द्रियों का पोषण भी मांगेंगे। पाणि, पाद रूपी कर्मेन्द्रियाँ तो व्यवहार में अत्यावश्यक हैं ही, पायु भी उदरविकृति की निवृत्ति के लिये आवश्यक है। उपस्थ के बिना तो वीर्यशक्ति के उत्पन्न न होने से सर्वशक्ति क्षीणता एवं कुण्डलिनी का उद्बोध ही असंभव होगा। इसी प्रकार त्वक् के बिना कांटा गड़ना आदि का पता न लगने से एवं घ्राण के बिना लहसन, प्याज आदि का पता न लगने से विघ्न संभावित है। रसनेन्द्रिय के बिना तो मिर्च, खटाई आदि का भी पता न लग सकेगा। अतः सभी इन्द्रियाँ सुपुष्ट होने पर ही यतिधर्म पालन संभव है।

प्राण से पांचों का ही ग्रहण है। प्राण के बिना तो घंटाभर भी जीवन नहीं चल सकता। क्षुत्पिपासा भी प्राणधर्म होने से जीवन-धारणार्थ प्राण की आवश्यकता स्पष्ट है। मूत्रादि विसर्ग के लिये अपान की पुष्टि आवश्यक है। खाये पीये को सभी अंगों में पहुँचाने के लिये समान की पुष्टि आवश्यक है। समान का स्थान नाभि होने से

इसके कमजोर होने पर तोंद फूलकर सभी साधनाओं को असंभव कर देती है। आसन पर भी अधिक देर बैठना नहीं हो सकता एवं निद्रा की प्रबलता भी हो जाती है। अतः इसकी पुष्टि भी आवश्यक है। समान की खराबी से गलत जगहों पर वसा एकत्रित होकर हृदयादि अनेक रोगों को पैदा कर देती है जिनमें ध्यान विचारादि असंभव हो जाते हैं एवं पर्वतादि का वास भी हानिप्रद हो जाता है। व्यान से स्नायुमंडल का संबन्ध होने से विचार मार्ग के पथिक को तो इसकी पुष्टि और भी ज्यादा आवश्यक है। स्नायुमंडल के कमजोर होने पर तुनुकमिजाजी आदि धर्म जो परमहंसधर्म विरुद्ध हैं प्रकट हो जाते हैं। काम क्रोधादि का वेग जय करने के लिये व्यान की पुष्टि आवश्यक है। सुषुम्णा में कार्य करने वाला उदान देहस्थैर्य के साथ कुण्डलिनी के जागरण में विशेष आवश्यक है। योगाभ्यास में उदान की कमजोरी बहुत ही बाधक होती है अतः आसनों एवं अमरोली, सहजोली आदि के द्वारा इसे पुष्ट किया जाता है। ये सभी पुष्ट होकर निरन्तर आत्मसंस्थता रूपी संन्यास निष्ठा में साधक हों यह भाव है।

'बलं नाम आत्मविद्यया अशेषविषयदृष्टितिरस्करणम्' कहकर वेदान्तसिद्धान्तमूर्ति शंकर भगवत्पाद आत्मविद्या के द्वारा सभी विषयों की तरफ जाने वाली वृत्तियों का तिरस्कार करना ही बल का अर्थ बताते हैं। अनात्मवेत्ताओं का बल तो साधन व फल के अधीन ही होता है। आत्मज्ञ ऐसे परतंत्र बल को अपना सहारा नहीं बनाता। अतः साधन-हीन फलहीन शिवात्मैक्य ज्ञान के बल का ही उन्नत या पुष्ट होना यहाँ प्रार्थित है। उस ज्ञान का सहारा ग्रहण करने से इन्द्रिय समूह श्रीपरमहंस को एषणा के विषय में खींचने में समर्थ नहीं होता। ज्ञान बल से रहित नर को तो बलात् दृष्ट व अदृष्ट विषयों की एषणा में इन्द्रियाँ लगा ही देती हैं। 'आत्मना विन्दते वीर्यम्' (के० २) 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुं० ३·२) आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

'सर्वाणि इन्द्रियाणि' से अन्तरिन्द्रिय मन का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। अथवा 'च' को अनुक्तसमुच्चय में समझ कर मन आदि का

ग्रहण है । तभी प्राण, ज्ञानकरण, कर्मेन्द्रियाँ एवं मन बुद्धि मिलकर लिंगदेह का ग्रहण होगा । अंगों से स्थूलदेह का ग्रहण है । अतः दोनों देहों की पुष्टि इष्ट है ।

ये सभी स्थूल सूक्ष्म देह एवं बाह्य सारा जगत् वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है । इस प्रकार का अखण्ड अद्वैत तत्त्व केवल उपनिषदों से ही जाना जा सकता है । 'उपनिषत्सु एव विज्ञेयः न अन्य-प्रमाण-गम्यः' कहकर भगवान शंकर स्पष्ट अन्य प्रमाणों से उसे अज्ञेय बताते हैं । यह औपनिषद् ब्रह्म ही 'स एव नामरूपात्मना अन्तर्बहिर्भावेन कार्यकरण-रूपेण व्यवस्थितः' नामरूप से अन्दर और बाहिर पने से जगत् एवं इन्द्रिय रूप से स्थित है ऐसा भगवान शंकर के द्वारा प्रतिपादित है । श्रुति भी 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ।' (बृ० २·५) उसका पहले शरीरों का रूप धारण करके पुनः लिंगदेहरूप से उनमें प्रवेश करना बताती है । इसका उद्देश्य प्रतिख्यापन मात्र है । आचार्यपाद कहते हैं 'यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तदास्यात्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत' (बृ० भा०) यदि नामरूप का निर्माण न होता तो इसका पारमार्थिक रूप प्रकट न होता । इस प्रकार का दृढ़ ज्ञान ही बृहदारण्यक में 'नान्यदतोस्ति द्रष्टृ, नान्यदतोस्ति श्रोतृ, नान्यदतोस्ति मंतृ, नान्यदतोस्ति विज्ञातृ' (३·८) से प्रतिपादित है । ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान रूपी त्रिपुटी ब्रह्म से अभिन्न हैं यह भाव है । ब्रह्मोपनिषदं पाठ में तो उपनिषदं ब्रह्म अर्थात् संसारनाशक, संसार प्रकाशक, बन्धशिथिल करने वाला ब्रह्म अर्थ है ।

ऐसे ब्रह्म का मैं तिरस्कार न करूँ अर्थात् कठिन है समझ कर न मुंह मोड़ लूँ । अनेक साधक प्रारंभ में उपनिषदों में प्रवृत्ति करके भी फिर सस्ते लटकों में फंस जाते हैं । इनसे वे पथ भ्रष्ट होकर जीवन मरण के चक्र से नहीं छूट पाते । कोई तो भक्ति या कीर्तन आदि को ही पर्याप्त मान बैठते हैं एवं कहते हैं कि यह निर्गुण ब्रह्म हमारी समझ में नहीं आता । कई योग के चक्कर में फंसते हैं । कहते हैं निष्क्रिय

ब्रह्म व्यवहार का नहीं तो किस काम का । कई अपने को 'शिवोहं' या 'अहं ब्रह्म' के मंत्रवत् जप करने मात्र से कृतकृत्य समझ लेते हैं । काम क्रोधादि के अन्दर व्यथित होकर निरन्तर रागद्वेष की अग्नि में जलते हुए भी उसको प्रारब्ध समझ कई पथ में आगे नहीं बढ़ते । अतः यहाँ ऐसे भ्रेष से बचने की प्रार्थना है । शिवविमुखता ही सबसे बड़ा पाप है ।

जब तक परमेश्वर स्वयं अपनी अहैतुकी कृपा से जीव को स्वीकार नहीं करते जीव का समस्त परिश्रम असफल रहता है । शिव से भिन्न वस्तु है, शिव नहीं है आदि भावनाओं से अनादिकाल से शिव से अलग सा होकर जीव संसार सागर में पड़ा हुआ अपने स्वरूप से तिरस्कृत है । अब वैसा तिरस्कृत पुनः न होवे यही 'ब्रह्म मेरा तिरस्कार न करे' इस प्रार्थना का भाव है । सोम कभी मेरी आंखों से ओझल न हो । 'सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः' (श्वे० २·६) में स्पष्ट हो भगवान सोम के अतिरेक से ही मन उनको प्राप्त कर सकता है यह वेद ने प्रतिपादन किया है । 'देव प्रसादात्' से कृष्ण यजुर्वेद भी यही कहता है । अतः उनसे सदा अपनाये रखने की प्रार्थना है । उनके अपनाने का चिह्न तो सदा शिव ज्ञान का प्रवाहित रहना ही है ।

ब्रह्म और मेरा अनिराकरण हो अर्थात् ब्रह्म और मैं भिन्न-भिन्न न रहें, सर्वथा एकता ही हमारी रहे । अथवा प्रथम वाक्य से ब्रह्म का निराकरण न हो एवं द्वितीय से मेरा निराकरण न हो ऐसा अर्थ भी हो सकता है । सर्वथा ब्रह्म का मुझसे अनिराकरण अर्थात् ब्रह्म में परोक्षतारूपी दोष निवृत्त हो । मेरा ब्रह्म से अनिराकरण अर्थात् मैं से अनन्त आनन्द की एकता हो । आपस में अभेद प्राप्ति दोनों पक्षों का अर्थ है । पूर्व पक्ष में दूसरे वाक्य का अर्थ हो जायगा मेरा अनिराकरण अर्थात् निरतिशय प्रीति ब्रह्म से हो । अर्थात् अभेद व प्रेम दोनों का स्पष्ट उल्लेख है । वस्तुतस्तु आत्मा ही सर्वप्रीति का केन्द्र होने से आत्माभेद व निरतिशय प्रीति समानार्थक ही हैं । शिव व जीव का प्रेम भेद मानने से सदा ही सातिशय रहेगा । 'आत्मनस्तु कामाय

'सर्वं प्रियं भवति' 'आत्मप्रीतिसाधनत्वाद् गौणी अन्यत्र प्रीतिः' आदि वेद व भाष्य वाक्य स्पष्ट ही आत्म प्रीति के साधन रूप से ही अन्य गौणी प्रीतियों का निरूपण करते हैं। शिव आत्मस्वरूप होने से ही मुख्य प्रीति के विषय हैं। भेदवादी वैष्णवों के मत में तो कृष्ण, राम आदि सदा गौणी प्रीति के ही विषय रहेंगे। अतः मुख्य भक्त तो अद्वैत वादी ही बन सकता है। ईश्वर का भी जीव से अभेद होने से उसकी भी जीव पर परम प्रीति होती है। गीता में श्रीकृष्ण ने भी इसीलिये 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतं' कहकर ज्ञानी को ही मुख्य भक्त स्वीकारा है। अतः जीवेश्वरैक्य स्वीकारने से दोनों की परस्पर प्रीति निरतिशय हो जाती है। इसी से कहा जाता है कि श्रीपरमहंस संसार में चक्रवर्ती की तरह घूमता है।

परमशिव एवं आत्मा की एकता के अनुसन्धान में लगे हुये मुझ में उपनिषदों में प्रतिपादित धर्म अर्थात् शम, दम, उपरति, श्रद्धा, समाधान, तप, सत्य, बाल्य, मौन, पाण्डित्य, निर्वेद आदि धर्म प्रकट हों। श्रुति अनुकूल स्मृतियों में कहे अमानिता, अद्वेषता, मैत्र, करुण, अहिंसा, आदि धर्म भी यहाँ ग्रहण कर लेने चाहिये। इन धर्मों से ही ज्ञान तेजस्वी बनता है। अथवा तत् अर्थात् तत्पदार्थ ईश्वर ही जिनका आत्मा या स्वरूप है वे शिवयोगी श्रीपरमहंस महात्मा निरन्तर स्वस्वरूप में निरत या मग्न रहते हुये सर्वदा उपनिषदों में ही रमण करते रहते हैं उनके वे धर्म मुझ में प्रकट हों। अवश्य ही शिव प्रेमी मुझ में प्रकट हों यह वीप्सा का तात्पर्य है।

इस प्रकार यहाँ जीवन्मुक्ति के लक्षणों की अपने में प्रकट होने की भी प्रार्थना है। जिस प्रकार ज्ञान शिव कृपा से ही संभव है उसी प्रकार ज्ञान दार्ढ्य एवं जीवन्मुक्ति का अनुभव भी शिवकृपाधीन ही है यह भाव है। 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना' आदि अष्टावक्रगीता के वचन यहाँ अनुसन्धेय हैं।

सप्तम मंत्र

ॐ वाक् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनः मे वाचि प्रतिष्ठितम्।
आविः आवीः मे एधि वेदस्य मे आणी स्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः।
अनेन अधीतेन अहोरात्रान् सन्दधामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि।

तत् माम् अवतु तत् वक्तारम् अवतु अवतु माम् अवतु वक्तारम् अवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (ऋग्वेद)

मे	= मेरी
वाक्	= वाणी
मनसि	= मन में
प्रतिष्ठिता	= अवस्थित हो।
मे	= मेरा
मनः	= मन
वाचि	= वाणी में
प्रतिष्ठितम्	= अवस्थित हो।
आवीः	= साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म
मे	= मुझ में
आविः	= प्रकट
एधि	= हो।
वेदस्य	= वेद के
आणी	= दोनों धुरे
मे	= मुझ में
स्थः	= स्थित हों।
मे	= मेरा
श्रुतं	= अध्ययन किया हुआ
मा	= मत
प्रहासीः	= त्यक्त हो।
अनेन	= इस
अधीतेन	= पढ़े हुए तत्त्व से
अहोरात्रान्	= दिन रात
सन्दधामि	= घनिष्ठ सम्बन्ध करता हूँ।
ऋतं	= (वेद प्रतिपाद्य) परमार्थ को
वदिष्यामि	= कहूँगा।

सत्यं	=(देखे सुने) सत्य को	वक्तारम्	=उपदेशक को
वदिष्यामि	=बोलूंगा।	अवतु	=बचावे।
तत्	=वह परमशिव	माम्	=मुझ को
माम्	=मुझ को	अवतु	=(अवश्य) बचावे।
अवतु	=बचावे।	वक्तारम्	=उपदेशक को
तत्	=वह परमशिव	अवतु	=(अवश्य) बचावे।

तात्पर्य

वाणी और मन की एकता इस ऋग्वेद मंत्र में मांगी गई है। सामवेद की योनि ऋग्वेद होने से साममंत्रों के मध्य में ऋग्वेद रखना युक्त ही है। पूर्व मंत्र में परमहंसों द्वारा इष्ट ब्रह्मात्मैक्य बोध के लिये शरीर आदि की स्वस्थता मांगी गई थी। उन्हीं श्रीपरमहंसों द्वारा यह व्यावहारिकता भी मांगी गई है। व्यवहार की सौष्ठवता का मूल आधार वाणी व मन की एकता है। यदि कुटिलता और माया को व्यवहार से हटा दिया जाय तो यहीं स्वर्ग का सुख हो जाय। गृहस्थ आदि पूर्ण रूप से इसका परित्याग नहीं कर पाने के कारण ही ब्रह्मनिष्ठा को नहीं पा सकते। संन्यास ग्रहण का मूल भाव ही नैतिक पूर्णता प्राप्त करना है। संन्यासी का सबसे बड़ा लोकोपकार यही है कि अपने जीवन में निरन्तर आत्मनिष्ठा से जन्य सहज नैतिक अकुटिल अमायिक व्यवहार से सामान्य साधक के सामने एक आदर्श उपस्थित करते हुये उसे आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा देना। आज प्रचार या लोकसंग्रह केवल लेक्चरबाजी या शफाखाना, रिलीफ वर्क्स आदि को मान लिया गया है। अथवा रोचक शास्त्र-व्याख्यान या संस्कृत विद्यालय, मन्दिर, अन्नक्षेत्र, आदि खोलना संन्यासी का कर्तव्य या गौरव माना जाने लगा है। धर्मरक्षा के लिये इनके उपयोग का निराकरण न होने पर भी वस्तुतः आदर्श ज्ञान-निष्ठा वाला बनना ही प्रथम आवश्यक है। पूर्ण नैतिकता, अक्रोध आदि सद्गुण, अकुटिलता, यथार्थभाषण आदि गुणों के साथ निरन्तर

आत्मनिष्ठा रखते हुए अन्य व्यवहार हों तभी धर्म प्रचार हो सकता है। वस्तुतः अन्य सभी कार्य तो गृहस्थ या सरकार भी कर सकते हैं। आज ऐसे आदर्शों की कमी से हिन्दू मात्र की धर्म निष्ठा खतम हो रही है। केवल गांधी जी के आदर्श देश प्रेम के कारण जिस प्रकार लाखों लोग स्वतंत्रता संग्राम में जुट कर सफलता प्राप्त कर गये उसी प्रकार यदि आदर्श संन्यासी तैयार हो जायें तो सामान्य हिन्दुओं में से अधिकतर धर्म पालन में लग सकते हैं। अन्यथा आज हिन्दुओं की चोरी, काला बाजारी, टैक्स चोरी आदि बड़े-बड़े मंदिरों एवं आश्रमों के शिखरों में चमक रही है। अतः यहाँ वाणी और मन की एकता की प्रार्थना करके श्रीपरमहंस अपने व्यवहारनिष्ठ अद्वैतात्मभाव की पूर्णता की मांग उस परममहेश्वर से करता है।

अथवा 'वाक् मे मनसि प्रतिष्ठिता' वाणी अर्थात् वेदवाणी मेरे मन में प्रतिष्ठित हो। मनोमयकोश का वर्णन करते हुये श्रुति ने उसका यजुर्वेद सिर, ऋग्वेद दाहिना बाजू, सामवेद बांया बाजू और अथर्ववेद पैर वाला रूप बताया है। अतः वेद ही मेरे मन को भर दे। मेरे सारे संकल्प वेद से अनुस्यूत हों। वेदविरुद्ध विचारधारा तो मन में नहीं ही आवे, वेद से अतिरिक्त बातों में भी प्रवृत्ति न करूँ। मेरा मन वेदवाणी में प्रतिष्ठित हो जाय अर्थात् वेद में पूर्ण निष्ठा वाला बन जाय। श्रीपरमहंसों के लिये विशेषतः वेदान्तों के निरन्तर आवर्तन का विधान है। 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया। क्वचिन्नावसरं दद्यात्कामादीनां मनागपि॥' से स्पष्ट ही सर्वदा इसका विधान स्मृतियों में है। यहाँ भी आगे रातदिन इस में लगे रहने का निश्चय प्रकट किया है। अतः वेदों का रहस्य ही मन में चिन्तन करे व उसी का वाणी आदि के द्वारा कथन या प्रवचन करे। परमेश्वर की महती कृपा से ही यह संभव है वर्ना लोकवार्ता में फंसना सरल है।

यदि सामान्य साधक की दृष्टि लें तो यहाँ तत्त्वविद्या के प्रतिपादक उपनिषद् पाठ में मन की एकाग्रता एवं वाणी की स्फुटता और शुद्धता की प्रार्थना है। मन में जो शब्द समुदाय कहने को इष्ट है वे ही

शुद्ध रूप से वाणी बोले। वेदान्तों में उक्त शब्द समुदाय को ही मन भी कहना चाहे। अथवा वक्ता के वचनों में मेरा मन प्रतिष्ठित हो अर्थात् में ध्यान पूर्वक श्रवण करूँ; एवं मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो अर्थात् जो श्रवण करके मन से समझा है उसे सम्यक् प्रकार से वाणी द्वारा कह सकूँ। अन्यथा कई लोग समझने पर भी प्रश्न के उत्तर में गूंगे बने रहते हैं अथवा कहते है 'कह नहीं सकते'। स्वाध्यायविधि में तो आचार्योक्त शब्दों को आनुपूर्वी सुनाना आवश्यक होने से यह प्रार्थना और भी सार्थक है। इस प्रकार वाणी और मन संयुक्त होकर वेदान्तों का धारण करें यह तात्पर्य है। मन के सावधान न रहने पर पागलों के से बकवास या अनर्गल शब्द निकलते हैं जो साधक के अयोग्य हैं। 'मेरा यह मतलब नहीं था' कहना अनावश्यक हो जाना चाहिये वाणी की असावधानता से भी गलत उच्चारण या भ्रान्त स्वर मात्र से अनर्थ हो जाता है। अतः दोनों की अनुकूलता आवश्यक है।

जो खुल्लमखुल्ला हो वह आवि कहा जाता है। ब्रह्म सदा अनावृत रहने से ही यहाँ इस पद से कहा गया है। स्वप्रकाश होने से ही वह नित्य अनावृत है। मेघ चक्षु का आवरक है, सूर्य का नहीं, इसी प्रकार माया भी शिव को आवृत करने में असमर्थ है। बादल सूर्य प्रकाश से ही दिखता है इसी प्रकार अज्ञान व उसका कार्य भी ब्रह्मप्रकाश से ही प्रकाशित है। वस्तुतस्तु सभी नामरूप एवं व्यवहारों में सत्ता व चित्ता रूप से वही प्रतीत हो रहा है। अतः उसका अपने में प्रकट होने की इच्छा करना कुछ अटपटा लगता है, पर श्रुति का भाव है कि मेरे हृदय में जो ग्रन्थि है उसे दूर करने की कृपा करें जिससे मैं आपका निरुपाधिक रूप समझ सकूं। अविद्या रूपी आवरण को हटाने के लिये आप अपने ब्रह्माकारवृत्तिविशिष्ट स्वरूप में प्रकट हों।

अथवा यद्यपि आप वस्तुतः स्वयं प्रकाश रूप हैं पर मैं अभी अपरोक्षानुभव नहीं कर पाया हूँ अतः मे=मेरे लिये आप प्रकट हों। वस्तुतस्तु यह प्रकट होना उपचार मात्र है। जिस प्रकार पहाड़ सदा ही गतिरहित होने पर भी 'पहाड़ खड़े हैं' ऐसा प्रयोग होता है वैसे ही

'मैं' में नित्य आत्मस्वरूप प्रकट होने पर भी ज्ञान काल में आत्मा प्रकट हुआ ऐसा प्रयोग संभव हो जाता है। वास्तविकता में तो वह कभी अज्ञानी नहीं क्योंकि 'मैं अज्ञानी हूँ' इस ज्ञान की तो वहाँ भी व्याप्ति है ही। वह तो स्वयं अपने आप को ढंकने का खेल करता है। माया तो उसकी ही शक्ति है। वह तो मानो उसी की आज्ञा से उसे ढकती है। आगमवेत्ताओं का उद्घोष है 'मायैषा तस्य देवस्य ययायं मोहितः स्वयम्' उस महादेव की यह माया उसे ही मोह में डाल देती है अर्थात् वह स्वयं उससे मोहित सा हो जाता है। पुनः वही अपने स्वरूप को जानकर मुक्त सा हो जाता है। 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च' ही वेदान्त-सिद्धान्त है। अतः मुग्ध अहं मुक्त अहं को प्रकट होना मानता है बस इसी दृष्टि से यह कहा गया है। जैसा भगवान सुरेश्वर कहते हैं 'तस्माद् व्युत्पन्नतत्त्वस्य मास्त्वविद्या चिदात्मनि। अव्युत्पन्नस्य दृष्ट्यैषा न वेद्मीत्यनुभूयते॥' तत्त्वज्ञ को चिदात्मा में अविद्या न हो तो भी अतत्त्वज्ञ की अज्ञानी दृष्टि अपने में बनती ही है। तू ब्रह्म है ऐसा श्रौत घोष सुनने पर उसके जीव भाव की निवृत्ति हो जाती है। यह निवृत्ति मेरे लिये हो कह कर अन्तःकरण में अहं का अध्यास मुझ में है यह प्रकट कर रहा है। इस अध्यास की निवृत्ति ही अपरोक्ष ब्रह्म का प्रकट होना कहा जाता है।

वेद की दो धुरियाँ धर्म व ब्रह्म हैं। मुझ में दोनों स्थित हों। जिस प्रकार अजातवाद के प्रवर्तक आचार्य गौडपाद संन्यासी के दो निकेतन मानते हैं चल व अचल, उसी प्रकार यहाँ श्रुति व्यवहारदृष्टि से ब्रह्मनिष्ठ श्रीपरमहंस में धर्म की पूर्ण स्थिति एवं परमार्थदृष्टि से ब्रह्म की स्थिति की प्रार्थना के द्वारा दोनों में पूर्णता का निर्देश करती है। अथवा सोपाधिक व निरुपाधिक ब्रह्म ही वेद की दो धुरियें कही जा सकती हैं। इन्हें ही शक्ति और शिव, सोम और अग्नि, प्राण और रयि आदि नामों से वेद में बताया है। शक्ति और शिव दोनों मुझ में प्रतिष्ठित हों का तात्पर्य है दोनों स्वरूपों को मैं जानूँ एवं दोनों को अपनी आत्मा से अभिन्न समझ उनसे पूर्ण प्रेम करूँ। वस्तुतः दृश्य

सभी सोपाधिक ब्रह्म है अतः शक्ति है; एवं द्रष्टा साक्षी चिन्मात्र होने से निरुपाधिक ब्रह्म अतः शिव है। शक्ति और शिव तत्वतः अभिन्न हैं। घट को दृश्य कहने का तात्पर्य घटावच्छिन्न चैतन्य को अनावृत चैतन्य रूप से जानना ही है। अतः अनावरण करके वृत्ति का काम समाप्त हो जाता है, वस्तुतः तो चैतन्य ही वहाँ भी है। इस प्रकार सर्वत्र चैतन्यानुभूति का होना ही वेद की दोनों धुरियों का प्रतिष्ठित होना है।

'मे वेदस्य आणीस्थः' भी अन्वय संभव है, यदि आणीस्थः को एक पद स्वीकारा जाय। वाणी और मन, जो प्रकृत हैं, मेरे लिये वेद का वास्तविक तात्पर्य लाने में समर्थ हों। अर्थात् एकाग्रता से अधीत व शुद्ध वाणी से उच्चरित वेद हमें ब्रह्म का बोध करावे।

अध्ययन किया हुआ विस्मृत हो जाय तो उसे त्यक्त ही कहेंगे। विस्मृति से मनुष्य पढ़े हुये को व्यर्थ कर देता है। अतः इसकी सावधानी रखते हुये वेद पुरुष से प्रार्थना है कि वे त्यक्त न हों। भ्रूणहा, जो महापापों में है, वेदत्यागी का ही नाम है। समाचारपत्रों के इस युग में पढ़कर भूलना स्वाभाविक मान लिया गया है। बालक परीक्षाशाला से बाहिर आते ही भूलने को गर्व का विषय मानते हैं। इस प्रकार भूलने वाला वेद के तत्व को कभी नहीं जान पायगा। निष्ठा तो संभव ही नहीं होगी। ध्यान और प्रेम की कमी ही विस्मृति का कारण है। इसीलिये सफल व्यापारी हजारों पदार्थों के मूल्य या ग्राहकों को याद रखते हुए भी वेद मंत्र को भूल जाता है। जो वेद को स्वतः ईश्वररूप मानेगा या अपने परमप्रियतम की वाणी स्वीकारेगा वह कभी भी नहीं भूल सकेगा।

अधीत के साथ का तात्पर्य अध्ययन द्वारा प्रतिपादित शिवजीवैक्य बोध के साथ से है। उसका अनुसंधान करना अर्थात् उसका अनुभव करना। ब्रह्माकारवृत्ति ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार दूध और जल मिल जाते हैं उसी प्रकार शिव और जीव मिल जावें। जीव अपने

आपको भूल कर शिव भाव में प्रविष्ट हो जाय तो सम्बन्ध की पूर्णता मानी जाय। निरन्तर या दिन रात यही भाव रहे।

अथवा किये हुये अध्ययन से रातदिन को जोड़ देता हूँ अर्थात् अध्ययन विचार में इतना लीन रहता हूँ कि रात और दिन के आने व जाने का पता ही नहीं लगता। यही निदिध्यासन की स्थिति कही जाती है। संन्यास के बिना यह संभव नहीं इसीलिये यह प्रार्थना यहाँ रखी गई है। प्रमाद छोड़कर निरंतर अनुसंधान ही यति का प्रथम धर्म है।

अहोरात्र से इळा, पिंगळा का ग्रहण भी संभव है। शिव, शक्ति भी इससे लिये जा सकते हैं। अर्थात् अध्ययन के साथ योगाभ्यास; या कुण्डलिनी का सहस्रार में शिव संभोग के लिये ले जाना रूपी साधन भी करता हूँ। इळा पिंगळा को जोड़ना ही सुषुम्णा चालन है। प्राण व अपान का रोध ही इसका उपाय है। शक्ति को शिव से सन्धान करना या जोड़ना सर्वोत्तम योग है। इसमें चित्त अति सरलता से स्थिर व निर्मल हो जाता है व अनन्त आनन्द रूपी वेदैकवेद्य स्फुट हो जाता है। जो इस सोमरस को छान लेता है वह मस्त होकर सर्वदा छका रहता है। 'अपाम सोमं अमृता बभूम' से स्पष्ट इसी सोमपान से अमृत होने का उपाय वेद बताता है। इसके बिना जीवन्मुक्ति संभव नहीं। श्रीपरमहंस शिवयोग धारण का उद्देश्य इसी आनन्द की प्राप्ति है।

आगे के वाक्य प्रथम शान्ति मंत्र की पुनरुक्ति मात्र हैं। ऋत अर्थात् वेद में कहे हुये परमार्थतत्व को वैसे ही वाणी से बोलूंगा। वेद-अनुक्त, वेद-विपरीत या कपोल कल्पित अर्थ कभी वाणी से न निकालूंगा। प्रायः रुचि को बढ़ाने के लिये अथवा स्वार्थ सिद्धि के लिये इनका सहारा लिया जाता है। अथवा स्मृति और पुराण या लौकिक मान्यताओं की सिद्धि के लिये प्रकरण, लिंग, वाक्य, समाख्या, श्रुति आदि का एवं उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास आदि का ही नहीं अर्थों का भी परित्याग कर देते हैं। अप्रकरणस्थ अन्यार्थक राम या कृष्ण शब्द

अथवा अनुराधामहे आदि अन्य शब्दों में घटित राधा आदि ध्वनियों से स्वसम्प्रदायों की पुष्टि करना एवं इन्द्र, सोम, रुद्र, अग्नि, वरुण आदि स्पष्टोक्त देवताओं की निन्दा करना भी ऋत का त्याग है। आजकल तो तार, रेल आदि की सिद्धि भी वेदों से करने वाले समाज स्थापित हो गये हैं। ऐसा साधक कभी उस परमशिव तत्व को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

सत्य अर्थात् व्यावहारिक विषयों में भी असत्य का आश्रय लेकर कार्य सिद्ध न करना। 'सत्यं यथाभूतवचनं अपीडाकरं' (केभा०) से भगवान शंकर जैसा अनुभूत विषय हो वैसा ही बोलने के साथ उसे ऐसे मधुर शब्दों से प्रकट करना भी सत्य का ही अंग मानते हैं जो दूसरे को पीड़ा न दे। 'सत्येन लभ्यः आत्मा' (मुं० ३) कह कर श्रीपरमहंसों के लिये अथर्ववेद स्पष्टतः सत्य की सहकारी कारणता बताता है। अतः प्राण छूटने पर भी सत्य का त्याग न करना शिवयोगी का धर्म है। अन्य के लिये यह साधन असंभव सा है। पारमेश्वरी कृपा के बिना इसकी प्राप्ति दुर्लभ है। सत्य पालन के बल से ही पाश्चात्य संस्कृति उन्नति के शिखर पर जा पहुँची है। नित्य सत्य न होने पर भी जितना सत्य पालन गृहस्थ करेगा उतनी उन्नति तो अवश्य करेगा। हिन्दू व्यापार आदि में तो असत्य व्यवहार करता ही है, धर्म आदि के मामले में भी असत्य का ही आश्रय लेता है। जीवन के व्यवहार व मान्यताओं में इसीलिये सम्बन्ध ही नहीं बन पाता। पाश्चात्य दार्शनिक ऋतको न समझ पाने पर भी सत्य पर स्थित है। हिंदू दोनों को छोड़ बैठा है। यही कारण है कि पूर्णरूप से पूजा पाठ करने वाले नैय्यायिक या मीमांसकों के घर के लड़के साम्यवादी एवं सर्वभक्षी बनते जा रहे हैं। सत्य का आदर्श ग्रहण करने पर ही हम पुनः उस गौरव को प्राप्त कर पावेंगे जो हमारा वेदसिद्ध अधिकार है।

कहीं-कहीं ऋतं से मानसिक सत्यता एवं सत्यं से वाचिक सत्यता भी मानी गई है। तब भाव बनेगा कि मन से विवेक करके ही वाणी से प्रकट करूँगा। अविवेक से वाणी का प्रयोग न करूँगा। ऋत से विश्व-

नियमों का ग्रहण यदि माना जाय तो ऋत के अनुकूल आचरण करूँगा। अथवा उन नियमों का कथन करूँगा। सत्य तब परमार्थतत्व वाचक होने से सत्य के अनुकूल शमदमादि का साधन करूँगा या परमार्थ प्रतिपादक उपनिषदों का कथन करूँगा।

परमशिव सम्यग्बोध द्वारा मेरी रक्षा करे। तत् से यहाँ श्रुति प्रसिद्ध एवं सर्व देश, काल, वस्तु में व्यापक शिव को ही ग्रहण करना चाहिये। जब तक गुरु में ज्ञान प्रदान की सामर्थ्य नहीं होती शिष्य बोध असंभव होने से वक्तृत्व सामर्थ्य प्रदान रूपी आचार्य का रक्षण भी माँगा गया। अथवा कृतकृत्य होने से यद्यपि गुरु स्वयं अपने लिये किसी से कुछ नहीं माँगेगा परन्तु शिष्य उस देह से ही उपकृत होने के कारण उसकी सर्वथा रक्षण की इच्छा प्रकट करे यह स्वाभाविक है। असंभावना व विपरीत भावना रूपी दोष द्वय की निवृत्यर्थ वीप्सा है। अन्त में भी आचार्य रक्षण की पुनः पुनरुक्ति शिष्य की गुरु के प्रति आत्यन्तिक श्रद्धा व प्रेम की द्योतक है। आचार्य के प्रति निरतिशय भक्ति ही ब्रह्म-विद्यार्थी का प्रधान साधन है। किंच आचार्य रक्षण से शिष्य की न्यूनताएँ वे पूर्ण करने में समर्थ हो सकेंगे। वरदान आदि सामर्थ्य उनमें स्वाभाविक हैं। अतः शिष्य को सर्वथा सर्वदा सर्वतः आचार्य की रक्षा में तत्पर रहना चाहिये यह भाव है। भगवान पद्मपाद ने नृसिंह प्रार्थना, परकायस्तोत्र, गंगा पार करने की तत्परता से यही उपनिषद् मंत्र प्रत्यक्ष दिखाया है। इस प्रकार का शिष्य अवश्य ही ब्रह्मनिष्ठा में सफल होता है।

अष्टम मंत्र

ॐ भद्रं नः अपि वातय मनः ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।। (ऋग्वेद १०·२५)

नः	=हमारे	अपि	=ही
मनः	=मन को	वातय	=उड़ाओ (बहाओ) ।
भद्रं	=कल्याण स्वरूप शिव की ओर		

तात्पर्य

भद्रं में शुभ व प्रसन्न दोनों ध्वनियाँ हैं। शुभ व प्रसन्न मन ही कार्य समर्थ (efficient) होता है यह विज्ञान सिद्ध है। अशुभता से समाज की हानि एवं अप्रसन्नता से व्यक्ति की हानि स्पष्ट है। वस्तुतः पाप भी मन का रोग ही है इसे अभी पाश्चात्य मनोविज्ञान नहीं समझ पा रहा है। स्वेच्छाचारी बनने के लिये स्वतः अपनी इच्छा भी अपने वश में होनी चाहिये। अविद्या-काम-कर्म यह भगवान शंकर का एक अद्भुत आविष्कार है। अतः सभी मानस विकार दूर होने पर भी अधश्चेतन एवं ऊर्ध्वचेतन की स्थिति से विकार संभावना दूर नहीं होती। अविद्या निवृत्त हो जाने पर दोनों की एकता होने से आगे कभी विकृति की संभावना ही नहीं रहती। अविद्या ही साक्षीरूप ईश्वर और भोक्तारूप जीव को उत्पन्न करती है। अविद्या निवृत्त होने पर दोनों की एकता सहज है। ईश्वर का संकल्प ही पुण्य है। इस मंत्र का अगला खण्ड दक्ष और क्रतु के द्वारा इसी रहस्य को स्पष्ट करते हुये साधना का रूप भी निर्देश करता है। कार्य में दक्षता एवं संकल्प में दृढ़ता ही सुखी, सफल व शान्त जीवन की कुंजी है। जैसे महेश्वर

विश्वसृष्टि, पालन व संहार में दक्ष हैं एवं सत्य संकल्प हैं वैसे ही हम भी अपने क्षेत्र में बनें तो भद्रता दूर नहीं है।

वस्तुतस्तु विविदिषा ही भद्र पद वाच्य है। शिवार्पण बुद्धि से किया हुआ यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, कामत्याग आदि मल या पाप की निवृत्ति द्वारा शिव प्रेम व शिवज्ञानेच्छा को उत्पन्न करता है। अन्यथा ज्ञान में रुचि ही नहीं पैदा होती। ब्रह्मविद्या में अनेक विघ्न तो स्वयं काठकशाखा में ही 'श्रवणायापि बहुभिः यो न लभ्यः' सुनने को भी बहुत लोगों को नहीं मिलता आदि कहकर बताया है। 'कोटिजन्मार्जितैः पुण्यैः शिवे भक्तिः प्रजायते' (१·१६) आदि गीता वचन भी करोड़ों जन्मों के पुण्य से शिवभक्ति की उत्पत्ति बताते हुये इसमें प्रमाण हैं। गीता आगे भी 'यथाकथंचिज्जातापि मध्ये विच्छिद्यते नृणाम्' एवं 'जातं वापि शिवज्ञानं न विश्वासं भजत्यलम्' कहकर बीच में टूटना और अविश्वास रूप विघ्नों का प्रतिपादन करते हुये शंभु के अनुग्रह से ही शिवज्ञानस्थैर्य की संभावना प्रतिपादन करती है। 'महापापवतां राजन् ज्ञानयज्ञो न रोचते' महापापयुक्त नरों को ज्ञान यज्ञ में रुचि ही नहीं होती, उल्टा वे उससे घृणा करते हैं इत्यादि पुराण वाक्य भी यही प्रतिपादित करते हैं। भगवान सुरेश्वर शिवार्पण द्वारा शुद्ध मन में सुनिर्मल वैराग्यादि का प्रतिपादन नैष्कर्म्यसिद्धि में करते हैं। वैराग्य का अभाव ही द्वितीय विघ्न है। ब्रह्मविद् गुरुप्राप्ति का न होना अथवा गुरु का शास्त्र न्याय आदि से अनभिज्ञ होने से संशय दूर करने में समर्थ न होना तृतीय विघ्न है। शुश्रूषा आदि की कमी से गुरु का पूर्ण प्रेम न होना भी विघ्न ही है। चित्त की एकाग्रता का न आना तो सर्ववादि-सम्मत विघ्न है। रोग, चित्त का क्रियापरायण न होना, तम बाहुल्य से मूर्खता, प्रमाण या प्रमेय सम्बन्धी चंचलता, प्रमाद, आलस्य, विस्मृति, ध्यान न देना, साधनों में उदासीनता, टालने का भाव, विषय सम्प्रयोग की इच्छा, अन्य मतों से भ्रान्त होना, उत्तरोत्तर वृद्धि का न होना या न होने की प्रतीति होना या न होने पर भी होने की प्रतीति होना, कभी एक साधन में लगना कभी दूसरे में आदि अनेकों विघ्न माने गये हैं।

इन सब के दूर होने पर ही श्रौत मुख्य ब्राह्मण बनता है । महेश्वर कृपा से ही यह संभव है । अतः भद्रं पद से यह सभी मांगा गया है ।

अन्वय में 'नः भद्रं कुरु' हमारा इहलोक व परलोक में कल्याण करो ऐसा भिन्न वाक्य बना सकते हैं । 'अपि मनः वातय' हमारे मन को भी अपने परम मंगलमय सत्य ज्ञान अनन्त आनन्द शिव में विघ्न और विक्षेपरहित करके लगाओ जिसमें प्रसन्नता व शान्ति का अनुभव हो ।

वातय अर्थात् उड़ाओ या बहाओ में जो सरल प्रयासहीन प्रवाह की शब्द और अर्थगत ध्वनि है वह सहृदयों को मर्मस्पर्शी लगती है । वात या वायु को ब्रह्म स्वरूप तो प्रथम मंत्र में ही बता दिया था । वायु का धर्म ही उड़ाना है उसी प्रकार हे शिव ! तुम्हारा अनुग्रह शक्तिमय रूप स्वभाव से ही हमारे मन को भद्र में ले जाय । महेश के लिये जो अति सरल है वह अन्य के लिये कठिनतम है । अतः यह प्रार्थना है ।

नवम मंत्र

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येम अक्षभिः यजत्राः ।
स्थिरैः अंगैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितम् यत् आयुः ।।
सु अस्ति नः इन्द्रः वृद्धश्रवाः सु अस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
सु अस्ति नः तार्क्ष्यः अरिष्टनेमिः सु अस्ति नः बृहस्पतिः दधातु।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।। (सामवेद १८७४, १८७५)

देवाः = हे महादेव की शक्ति रूप देवताओ !
कर्णेभिः = कानों से
भद्रं = मंगलमयी शिव ध्वनि
शृणुयाम = सुनें ।
यजत्राः = यज्ञ करने वाले का त्राण करने वाले देवतागण !
अक्षभिः = आँखों से
भद्रं = शिव रूप
पश्येम = देखें ।
स्थिरैः = स्वस्थ व दृढ़ और पूर्ण एवं अशिथिल
अङ्गैः = अवयवों वाले
तनूभिः = शरीरों से
तुष्टुवांसः = स्तुति करते हुये
यत् = जो (जितनी)
आयुः = आयु (हो)
देवहितम् = देवताओं के हितार्थ
व्यशेम = उपभोग करें ।
वृद्धश्रवाः = पुरानी कीर्ति वाले
इन्द्रः = इन्द्र देवता
नः = हमें
सु = मंगलमय
अस्ति = हों ।
विश्ववेदाः = सर्वज्ञ
पूषा = पूषा देवता
नः = हमें
सु = मंगलमय
अस्ति = हों ।
अरिष्टनेमिः = दुःखध्वंसक
तार्क्ष्यः = तार्क्ष्य देवता
नः = हमें
सु = मंगलमय

अस्ति =हों।
बृहस्पतिः =बृहस्पति
नः =हमें
सु =मंगलमय
अस्ति =हों

दधातु =(एवं हमें सर्वरूप महेश) धारण करें, ग्रहण करें, वहन करें व पोषण करें।

तात्पर्य

मन की भद्रता के अनन्तर इन्द्रिय, देह आदि की भद्रता की प्रार्थना है। उपर्युक्त ऋग्वेद के दो शान्ति मंत्रों के अनन्तर यह सामवेद के अन्तिम दो मंत्र हैं। सारे ही देहों में इन्द्रियों आदि के अधिष्ठाता रूप में एवं अधिदैव राज्य के कार्य निर्वाहक रूप में महादेव के अंगप्रत्यंगरूप से अवस्थित एवं उन्हीं की भिन्न शक्तिरूप देवगणों से यह प्रार्थना की जाती है। वैसे यज्ञ, दान, वेदपाठ, तप, ध्यान आदि साधनों से पवित्र जीव ही महादेव की निरतिशय कृपा से देव पद को प्राप्त कर आधिकारिक पद को प्राप्त करते हैं। वे ही मानो देवाधिदेव परम भट्टारक परमेश्वर के अमात्य हैं। उनमें शिव की शक्तियाँ निहित रहती हैं। 'कर्णेभिः' आदि में बहुवचन सभी तत्त्वान्वेषकों की दृष्टि से समष्टि कल्याणार्थ प्रार्थना है। अमंगलकारी भाव इन्द्रियों द्वारा हमारे मानस में प्रविष्ट न हों यह भाव है। वैदिक आदर्श न सुनने का नहीं, वरन् मंगलकारी वेद उद्घोष सुनते हुये मंगलमय जीवन यापन का है। पूर्णाद्वैत शिवशक्ति सामरस्यात्मक मंत्रों का श्रवण होता रहे। श्रद्धा व समाधान के साथ देव प्रसाद से हम सुनने में रुचि पूर्वक प्रयत्न करते रहें। हमेशा ही शिव वाक्यों में प्रवृत्त बने रहें। निगमागम का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही होकर शिव ज्ञान में प्रवृत्ति होती है अतः उसको प्रथम रखना युक्त ही है।

यज्ञ में यष्टव्य एवं यजमान को उसका स्वेष्ट देकर त्राण करने वाले होने से देव यजत्र कहे जाते हैं। इस सम्बोधन से बताते हैं कि हम निरन्तर यज्ञशील हैं एवं यजमान रूप से हम भी महादेव की अष्टमूर्तियों में से एक के अंग हैं अतः हमारे ऊपर तुम्हें

विशेष ध्यान देना चाहिये। अथवा 'यजत्राः वयं पश्येम' यज्ञ, स्वाध्याय ब्रह्मविद्या श्रवण, शिव ध्यानादि में रत रहते हुये हम आँखों से मोदकर शुभ सोम मूर्ति अथवा सोमभक्त पूजनीय श्रीपरमहंस शिव योगियों की मूर्तियों का दर्शन करें। यहाँ परिव्राजक प्रकरण में पठित शान्ति होने से यज्ञ का अर्थ तदनुकूल ही ध्यानयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणयज्ञ आदि करना चाहिये। हमारी अप्रतिहत दृष्टि कभी भी अश्लील, अश्रद्धेय, हेय, निषिद्ध दर्शन न करे। देवताओं के अनुग्रह से ही यह संभव है क्योंकि इन्द्रियों के अधिष्ठाता भी वे ही हैं एवं भोक्ता के समक्ष कर्मफल के उपस्थापक भी वे ही हैं।

अंगों की स्थिरता उनकी पूर्णस्वस्थता, कार्य योग्यता एवं अहीनता से ही होती है। शरीरों में बहुवचन अनेक साधकों की दृष्टि से, अथवा त्रिविध देह से हो सकता है। भावुकों की दृष्टि में तो जन्मजन्मान्तरों में मिलने वाले शरीरों में भी शिव स्तुति ही करते रहें यह भाव सिद्ध होता है। आद्याचार्य शङ्करभगवत्पाद इसीलिये 'सदा त्वत्पादाब्ज-स्मरणपरमानन्दलहरीविहारासक्तं चेद् हृदयमिह किं तेन वपुषा॥' (शि. ल. १०) कहते हैं कि नित्य शिवचरणकमलों का चिन्तन आनन्दोद्रेक करता रहा तो जन्म पशु आदि योनियों में भी हो तो क्या हर्ज है। पत्नी, पुत्र आदि भी अपने शरीर ही माने जाते हैं। वे सभी शिवस्तुति में लगे रह कर पूर्णायु तक दृढ़ अवयवों से शिव सेवा करें यह भाव भी इष्ट है।

अथवा स्थिर का अर्थ चंचलता से रहित है। देवताओं की कृपा से समाधिकाल में हमारे अंग निश्चल हो जायें एवं हम शिवैक्यभावना में लीन होना रूपी स्तुति करते रहें। अथवा देवकृपा से हमारे अङ्ग विषयों से विरक्त होकर हम तनूभिः अर्थात् सूक्ष्मतत्व प्रतिपादक श्रुतियों से अथवा सूक्ष्म नादात्मक प्रणव से ब्रह्म एवं जीव के अभेद का अनुसन्धान रूपी स्तुति करते रहें। समग्र वेद वस्तुतः महादेव और उनके अंगस्वरूप देवताओं की स्तुति रूप होने से वेद स्वाध्याय करते रहें यह भी भाव संभव है। अथवा परममहेश की लौकिक भाषा में ही

स्तुति करते रहें। इस प्रकार हम अपनी देवप्रदत्त आयु उनके लिये ही उपयोग में लावें। यह सारा जीवन महादेव की सेवा में ही बीते। जैसा कि भगवत्पाद भाष्यकार का कहना है 'कंचित्कालम् उमामहेश भवतः पादारविन्दार्चनैः, कंचिद् ध्यानसमाधिभिश्च, नतिभिः कंचित्, कथाकर्णनैः कंचित्, कंचिद् अवेक्षणैश्च, नुतिभिः कंचिद्, दशाम् ईदृशीं यः प्राप्नोति मुदा त्वदर्पितमना जीवन्समुक्तः खलु' जिसका कुछ समय, हे उमामहेश ! आपके चरण कमलों की पूजा में, कुछ ध्यान समाधि में, कुछ नमस्कार करने में, कुछ कथा सुनने में, कुछ दर्शन करने में व कुछ स्तुति करने में आपके अर्पित मन से प्रसन्न होते हुये बीतता रहे तो वह निश्चित ही जीवन्मुक्त है।

देवों द्वारा निश्चित आयु १०० या ११६ वर्ष है। 'देवहितं आयुः व्यशेम' इस प्रकार के अन्वय से उस आयु का हम स्थिर अंगों व इन्द्रियों द्वारा उपभोग करें। अथवा 'तनूभिः' सूक्ष्म हुये कान, आँख, अंगों द्वारा हम समग्र आयु का देव प्रसाद से भोग करें। इन्द्रियों की सूक्ष्मता सूक्ष्म ग्रहण सामर्थ्य से मानी जाती है। सौन्दर्य, संगीत, कला आदि, दर्शन, धर्म आदि, योग, समाधि आदि, वेदाध्ययन, प्रणवोपासना आदि एवं ब्रह्मनिष्ठा आदि क्रमशः सूक्ष्म सूक्ष्मतर विषय हैं। अथवा महादेव की उपासना के योग्य या देवों की तरह प्रशंसित दीप्ति कान्ति, यश, दान आदि से युक्त प्रचुर आयु प्राप्त करें।

'देव हितं' को दो पद मानने पर हे देवाधिदेव महादेव ! आपकी कृपा से हम हित अर्थात् नीरोग आदि गुणों से युक्त हो अपनी सम्पूर्ण आयु का उपभोग करें। सम्पूर्ण आयु को हम नीरोगता से व्याप्त करें। अथवा चिरजीविता प्राप्त करें। ये सभी अर्थ संग्राह्य हैं।

देवगणों से प्रार्थना के अनन्तर आराध्य देवों का नाम प्रसिद्ध विशेषणों के साथ स्मरण करते हैं। 'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये' इस न्याय से विशेषणों का उच्चारण सार्थक है। मन्द ब्रह्मज्ञानी को ज्ञान पुष्ट्यर्थ प्रार्थना आवश्यक होती है। दृढ़ ज्ञानी तो अपने को शिव से अभिन्न समझते हुये अपने अंगों की प्रार्थना ही देव प्रार्थना को समझता

है। फिर भी लोक संरक्षणार्थ वह प्रार्थना करता ही है। इन देवों में से कुछ का स्वरूप प्रथम मंत्र के विचार में आ चुका है। सु अर्थात् मंगल। ब्रह्मनिष्ठा की दृढ़ता ही परममंगल है। ब्रह्म का नाम ॐ भी मंगल ही है। ब्रह्मविद्यारूपिणी उमा हैमवती भी महामंगलमयी हैं। उनकी प्राप्ति के साधन वेद, श्रवण, मनन, निदिध्यासन भी मंगल हैं। तदंगभूत शम, दम, विवेक, वैराग्य भी मंगल कहे गये हैं। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय विविदिषा के साधन होने से मंगल ही हैं। इस प्रकार उनके उपयोगी स्त्री, धन एवं तत्प्राप्ति उपायभूत सभी कार्य मंगल हैं। यद्यपि यहाँ श्रीपरमहंसों द्वारा पठित प्रकरण में ब्रह्मनिष्ठा ही मंगल मानी जा सकती है पर सामान्यरूप से सर्व संग्रह समझना चाहिये।

महान् कीर्ति होने से ही वेदों में सर्वाधिक मंत्र इन्द्र को ही सम्बोधित किये गये हैं। इन्द्र पारमेश्वरी शक्ति रूप से अति प्राचीन है। व्यष्टि रूप से भी बल के अधिष्ठाता होने से कलिल के समय से ही इन्द्रशक्ति का प्रारम्भ होने से वे वृद्धश्रवा हैं। परमयशस्वी सर्वैश्वर्य सम्पन्न इन्द्र हमारा यश, ऐश्वर्य बढ़ावें। ब्रह्मनिष्ठ की दृष्टि से ब्रह्म से अभिन्न होने से 'तस्य नाम महद्यशः' इस वेदवचन से स्वयं वेद या वेदप्रतिपाद्यतत्त्व का विस्तीर्ण प्रचार करता रहूँ एवं तदर्थ शास्त्रयुक्ति स्फुरण रूपी ऐश्वर्य प्राप्त करूँ यह भाव है। बहुवचन नः को यहाँ देह भेद से या समष्टि दृष्टि से ग्रहण करना चाहिये। वृद्धश्रवा का प्रभूत धन वाला भी अर्थ होता है। अतः मुझ में शमदमादि प्रभूत साधनसम्पत्ति प्रकट हो यह भाव है। अथवा वृद्धश्रवा अर्थात् महान् शब्द वाला। मुझ में वेद की शब्द राशि भर जावे एवं वही शब्द मैं करूँ यह भाव भी सम्भव है।

सर्व जगत् का पोषण करने से महादेव पूषा कहे जाते हैं। पूषा को अदन्त कहा गया है। जैसे दांत रहित व्यक्ति किसी को काट नहीं सकता अर्थात् हानि नहीं पहुँचा सकता वैसे ही महादेव की पूषाशक्ति केवल कल्याण ही करती है। किसी मत में सर्वपोषणकर्त्ता होने से सूर्य ही पूषा है। सूर्य अष्टमूर्ति में है ही। सभी संसार का ज्ञान रखने से

वह सर्वज्ञ हैं । अतः हमें भी ज्ञान प्रदान करे यह भाव है । अथवा विश्व में अनुगत है ज्ञान रूप से जो विज्ञानघन परमशिव, वही सभी चराचर जगत् का ज्ञान से पोषण करता है अतः विश्ववेदा पूषा कहा जाता है । ज्ञान ही ज्ञाता में चेतन रूप से प्रतीत होता है एवं जड़ में ज्ञेय रूप से समझा जाता है। अतः सर्वत्र ज्ञानमयी दृष्टि से हम चिन्मात्र का साक्षादनुभव करें यह भाव प्रार्थना का है ।

विश्व अर्थात् सारे वेद पोषणकर्ता हैं । धार्मिक का धर्मज्ञान के द्वारा एवं विरक्त का ब्रह्मज्ञान के द्वारा वे पोषण करते हैं । हमारी निष्ठा उनमें अभिवृद्ध हो यह तात्पर्य है ।

अरिष्ट अर्थात् शत्रु या दुःखों को नेमि (circumference) अर्थात् अपने चक्र से नष्ट करने वाले भगवान् विष्णु हमारे सभी विघ्नों को दूर करें । अथवा 'अरिष्टा नेमिर्यस्य' अकुण्ठित गति वाले तार्क्ष्य देवता हमारी ज्ञानशक्ति को अप्रतिबद्ध बनावें । तृक्ष अर्थात् गतिमान् । तृक्ष के जो हों सो तार्क्ष्य । पादाभिमानिनी देवता होने से विष्णु तार्क्ष्य कहे जाते हैं ।

टायर ट्यूब रूप नेमि का संरक्षण करता है अतः ट्यूब अरिष्टा अर्थात् प्रतिघातरहित नेमि है । इस दृष्टि से टायर अरिष्टनेमि का कर्ता होने से अरिष्ट नेमि हुआ । शिव ही जीव का अरिष्टनेमि है। तार्क्ष्य देवता सब प्रकार की दुःखदोषादि से उत्पन्न बाधा को दूर करे यह भाव है ।

बृहस्पति वेदों के पालक हैं अतः हमें वेदश्रवण प्राप्त हो । बुद्धि के अधिष्ठाता होने से बुद्धि को शोभन एवं कुशल बनावे यह अभिप्राय भी है ही ।

महेश को हम अपना भर्ता मानें यह उनका धारण करना है । वे हमें अपनी भक्ति में प्रवृत्त करावें यह ग्रहण करना है । इहलोक वा परलोक एवं ज्ञान साधनों की प्राप्ति कराना वहन करना है । ब्रह्मनिष्ठा की दृढ़ता कराना पोषण है ।

सर्वत्र स्वस्ति को अव्यय, जो क्षेम-कल्याणार्थक है, मानकर एक पद स्वीकार करें तो दधातु या प्रदान करें का सर्वत्र विनियोग करना पड़ेगा । वे देवता हमारा स्वस्ति अर्थात् मंगल करें । अविनाशी शुभ ही स्वस्ति का अर्थ है । अतः सभी शक्तियों सहित उमापति हमें ब्रह्मनिष्ठा में अविचल बनावें यही प्रार्थना का भाव है ।

दशम मंत्र

ॐ यः ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् यः वै वेदान् च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवं आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः वै शरणं अहं प्रपद्ये ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.१८)

यः	=जो (महेश)	आत्म-बुद्धि-प्रकाशं	=अपनी बुद्धि का प्रकाशकरनेवाले
पूर्वम्	=पहले	ह	=प्रसिद्ध
ब्रह्माणं	=ब्रह्मा को	देवं	=स्वप्रकाश रूप शिव को
विदधाति	=पैदा करता है;	वै	=ही केवल
च	=और	अहं	=मैं
यः	=जो	मुमुक्षुः	=मोक्ष की इच्छा वाला (होने से)
वै	=ही	शरणं	=आश्रय रूप से (रक्षा करने वाले को)
वेदान्	=वेदों को	प्रपद्ये	=जाता हूँ या प्रपन्न होता हूँ।
तस्मै	=उसके लिये		
प्रहिणोति	=देता है,		
तं	=उस		

तात्पर्य

उपक्रम की तरह उपसंहार भी कृष्ण यजुर्वेद से ही करते हैं। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के सारे साधन, ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन, ब्रह्मनिष्ठा का रूप, जीवन्मुक्त की स्थिति, दृढ़ अपरोक्षानुभव के साधन एवं ब्रह्मीभूत के आचार आदि का निदर्शन पूर्व मंत्रों में हो गया। अब इन आगे की सारी सीढ़ियों की प्राप्ति करने की इच्छा वाले साधक

का निश्चय प्रकट करते हैं। पूर्व मंत्रों में देवताओं से प्रार्थना थी। इसमें शिष्य का कर्त्तव्य व दृढ़ निश्चय (affirmation of faith) है। श्रौत परम्परा में संन्यासी गुरुपादोपसर्पण पूर्वक यह मंत्र बोलकर ही शिष्य भाव को प्राप्त करता है। अतः साधक को यह प्रतिज्ञा सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए। कान फुंकवाना या गले को माला में फंसवाना शिष्य बनना नहीं है। इस मंत्रोक्त निश्चय को ही शिष्यभाव कहते हैं।

जो प्रसिद्ध सर्वकर्त्ता है वही सृष्टि के आदि में विराट् या ब्रह्मा को उत्पन्न करता है। वही महेश ब्रह्मा के लिये ऋगादि लक्षण वाले समग्र वेदों को निखिल लोकों के कल्याणार्थ प्रेरित करता है कि वे ब्रह्मा के हृदय में प्रकाशित हों। यही ब्रह्मा को वेदों का समर्पण है। वस्तुतस्तु पूर्वकल्प में अधीत होने से महेश की स्वेच्छाशक्ति से उनको स्मृति पथ में लाना मात्र ही प्रेरणा करना है। वेद भी चेतन स्वीकारे जाते हैं अतः उन्हें प्रेरणा देना युक्त ही है। जो इस प्रकार से समष्टि अभिमानी ब्रह्मा को ज्ञान देता है वही स्वप्रकाश देव हमारी बुद्धि-वृत्तियों का भी भासक है। वही हमारा भी प्रेरक व अन्तर्यामी है अतः हमारा व ब्रह्मा का लक्ष्यार्थ एक ही है। आत्मा का अर्थ देह या मन भी संभव है। अतः वह देहादि सभी कार्यकारणसंघात में अहं रूप से प्रेरक है। चूंकि मैं मोक्षमात्र का इच्छुक हूँ अतः निश्चयरूप से केवल महेश की ही शरण को ग्रहण करता हूँ। सर्वतोभावेन उनका ही आश्रय लेता हूँ। मोक्ष शंकर की अनुग्राहकशक्ति का कार्य है। यह कार्य किसी देवतान्तर के अधीन न होने से अन्य शरण मोक्ष मार्ग में अनुपयोगी है। इसीलिये श्वेताश्वतर भाष्य में 'यस्मात्स एव संसार-मोक्षहेतुः तस्मात्तमेव मुमुक्षुः सर्वात्मना शरणं प्रपद्येत' सदाशिव की ही संसार से मोक्ष में कारणता होने से सर्वभाव से शरण ग्रहण करने का प्रतिपादन है।

आत्मा में जो बुद्धि, उसका प्रसाद करने वाला होने से वे आत्म-बुद्धि प्रसाद हैं, ऐसा 'प्रसाद' पाठ में अर्थ समझना चाहिये। सदाशिव के

प्रसन्न होने पर शिव विषयक बुद्धि उत्पन्न होती है एवं वह प्रमा निष्प्रपंचब्रह्माकाररूप से अवस्थित बनी रहती है।

आत्मा ही बुद्धि है एवं वही प्रकाश है इस प्रकार तीनों की एकता का भी यहाँ प्रतिपादन है। परिच्छिन्न आत्मतत्व ही बुद्धि रूप से अवभासित होता है एवं वह स्वप्रकाश है। उस परिच्छिन्नांश से भिन्न परिच्छिन्नांश से ऐक्य प्राप्त कर मेय का प्रकाश करने वाली होने से भी बुद्धि प्रकाश रूप है। वेदान्तों में अन्तःकरणावच्छिन्न या वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से घटावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही घटप्रकाश या घटज्ञान स्वीकारा गया है। आत्मा व प्रकाश तो एकार्थक हैं ही। आत्मा व प्रकाश के मध्य बुद्धि शब्द रख कर श्रुति अनवच्छिन्न अवस्था के मध्य भान होने वाली अवच्छिन्न अवस्था को रज्जुसर्प की तरह मिथ्या प्रतिपादित करती है।

आत्मा का अर्थ खुद होने से खुद की बुद्धि का प्रकाश या साक्षी भाव का प्रतिपादन भी यहाँ इष्ट है। व्यष्टि व समष्टि उभय का वही साक्षी या अन्तर्यामी है। अतः व्यष्टि व समष्टि का ऐक्यानुसंधान ही यहाँ कर्त्तव्य है। खुद की बुद्धि से ही जाना जा सकने वाला अर्थात् स्वसंवेद्य होने से भी उसे आत्मबुद्धिप्रकाश कहा गया है। आत्माकाराबुद्धि में ही प्रतिभात होने से भी वह आत्मबुद्धिप्रकाश है।

सम्यग्ज्ञान में परमेश्वर ही मुमुक्षु के आत्मरूप से अभिव्यक्त होकर मोक्ष का कारण बनता है अतएव मोक्ष सिद्धि के लिये मुमुक्षु की ईश्वर के प्रति शरण लेना स्वतः सिद्ध है। किंच सभी अधिकारियों को मोक्ष के साक्षात्कारणरूप वेद की प्राप्ति कराने के लिये सृष्टि के आदि में सम्प्रदायप्रवर्तन करने वाले होने से एकमात्र गुरुमूर्ति सदाशिव की शरणता मुमुक्षु को अवश्य ही कर्तव्य है। सभी गुरुओं में गुरुत्व सदाशिव का ही रूप है। अतः वैदिक सम्प्रदायों में गुरु पूजन शिवपूजन का ही प्रकार माना गया है एवं एकमात्र शङ्कर को ही गुरु स्वीकारा गया है। गुरुपादोपसर्पण के समय इस मंत्र का उच्चारण भी इसी दृष्टि से है।

सदाशिव को अपना सर्वविध रक्षक स्वीकारना ही शरण ग्रहण करना है। अन्य शरण व्यावृत्ति यहाँ मुमुक्षु को कर्त्तव्य है। वैसे तो सभी शरणों में शिवशरणता ही है। पर वहाँ उपाधि विशिष्ट की शरणता है और यहाँ निरुपाधिक शिव की। वस्तुतस्तु धन, विद्या, पति आदि को शरण भी एकमात्र पदार्थ शिव की ही उन उन उपाधियों के द्वारा शरण लेना है, पर उपाधि भेद से फल भेद वहाँ दृष्ट है। इसी प्रकार यहाँ निरुपाधिक शिव होने से अनन्तफल रूप मुक्ति संभव होती है।

केवल मुख से 'शरण लेता हूँ' कहना शरण लेना नहीं है वरन् सभी दशाओं में उसकी कृपा का अनुभव करते हुये उनकी आज्ञा का यथाशक्ति पालन करना ही शरण लेना है। शंकरभगवत्पाद इसीलिये कहते हैं 'यदीयं हृत्पद्मं यदि भवदधीनं पशुपते, तदीयस्त्वं शंभो भवसि, भवभारं च वहसि' (शि० ल० ११) जिसका हृदयकमल हे शंकर! आपके अधीन हो गया आप उसी के हो गये एवं उसके जन्ममरणरूपी भार का आप स्वयं वहन करते हैं अर्थात् विश्वप्रतीति काल में योगक्षेम निबाहते हैं एवं अन्ततः विश्वनिवृत्ति के द्वारा भूमानन्द भी देते हैं। यह शरणागति ही साधन का प्रधान व अन्तिम कार्य है। इसके बाद तो गुरुस्वरूप शंकर स्वयं ही सारी साधनाएँ करवा लेते हैं। पर ऐसी शरणागति दुर्लभ है। अनेक असंभव परीक्षाओं से निकलने पर ही यह पुष्ट होती है। दत्त गुरु ने अलार्क की एवं शंकरभगवत्पाद ने भानु मरीचि आदि की कठोर परीक्षाएँ की थीं यह प्रसिद्ध है। अतः ऐसी शरणभूमि प्राप्ति के पूर्व नित्य इस मंत्र के जप से साधक इसकी प्राप्ति की प्रार्थना करता है ऐसा इसका भाव है।

ॐ नमः ब्रह्मादिभ्यः ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय-कर्त्तृभ्यः वंशर्षिभ्यः महद्भ्यः नमः गुरुभ्यः । सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थः ब्रह्म एव अहं अस्मि ।। (भगवत्पाद शंकर)

ब्रह्मादिभ्यः = ब्रह्मा, विष्णु आदि देवगण के प्रति
ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय-कर्त्तृभ्यः = उपनिषत् मार्ग के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि सिद्ध महर्षिगण के प्रति
वंशर्षिभ्यः = हमारी परम्परा के आचार्य व्यास आदि मानवगण के प्रति
नमः = नमस्कार हो ।
महद्भ्यः = महान् वेदान्त तत्वज्ञों के प्रति
गुरुभ्यः = गौडपाद, गोविन्दपाद आदि गुरुओं के प्रति
नमः = प्रणाम है ।
सर्वोपप्लवरहितः = सर्व प्रपंच रूपी व्यक्ति समष्टि उपाधि रूपी क्लेशहीन
प्रज्ञानघनः = चिन्मात्रस्वरूप शिवशक्त्यैकरस अनुत्तर
प्रत्यगर्थः = अन्तरात्मा का लक्ष्यार्थ या अन्तर्मुखता की अन्तिम सीमा रूपी विषय
ब्रह्म = ब्रह्म
एव = ही
अहं = मैं
अस्मि = हूँ ।

तात्पर्य

महद्भ्यः गुरुभ्यः सभी का स्वरूप लक्षण स्वीकारने पर ब्रह्मा से लेकर हमारे गुरु तक जितने भी ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के आचार्य प्रजापति, कावषेय, तुर आदि 'अथ वंशः' से उपनिषदों में उक्त हैं एवं शक्ति, पराशर आदि पुराणों में उक्त हैं तथा अर्वाचीन परम्परा में स्मृत हैं हमारे द्वारा नमन किये जाते हैं ऐसा अर्थ संभव है । कहीं-कहीं 'वंशऋषिभ्यः' ऐसा पाठ भी प्रचलित है ।

यहाँ संक्षेप से नमस्कार एवं तत्त्व प्रतिपादन दोनों ही हैं ।

स्वरूप व तटस्थ लक्षण तथा तत् एवं त्वं पदार्थों का सुश्लिष्ट वर्णन है । अतः इस एक मंत्र की स्मृति से सभी वेदान्त स्मृत हो जाते हैं ऐसा अनुभवसिद्ध ब्रह्मनिष्ठों का कथन है ।

इस प्रकार इन शान्ति मंत्रों का पाठ करके श्री दक्षिणामूर्ति स्तोत्र के प्रथम पांच मंत्रों का पाठ किया जाता है एवं फिर सूत्र या उपनिषद् भाष्य का अध्ययन करके अन्तिम पांच मंत्रों का पाठ करके पुनः दश-शान्ति के पाठ का विधान है । इस विधि से स्वाध्याय ही ज्ञान पर्यवसायी होता है ।

मूल मंत्र

ॐ शन्नो मित्रश्शं वरुणश्शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिश्शन्नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षम्ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षम्ब्रह्म वदिष्याम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।१।।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।२।।

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपश्छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोत्वमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरम्मे विचर्षणञ्जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्याम्भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोसि मेधया पिहितश्श्रुतम्मे गोपाय । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।३।।

ॐ अहं वृक्षस्य रेरिवा कीर्तिः पृष्ठङ्गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसं सुमेधामृतोक्षित इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।४।।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।५।।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुश्श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वम्ब्रह्मौपनिषदम्माहम्ब्रह्म निराकुर्याम्मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणम्मेस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।६।।

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्मएधि वेदस्य म आणी स्थश्श्रुतम्मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।७।।

ॐ भद्रन्नोपिवातय मनः । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।८।।

ॐ भद्रङ्कर्णेभिश्शृणुयाम देवा भद्रम्पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्ति न इन्द्रोवृद्धश्रवाः स्वस्ति नःपूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्ताक्ष्यौरिष्टनेमिस्स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।९।।

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहम्प्रपद्ये । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।१०।।

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशर्षिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः । सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि ।।

ॐ विश्वन्दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यन्निजान्तर्गतम्पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया । यस्साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयन्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ।।

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदम्प्राङ्निर्विकल्पम्पुनर्मायाकल्पित देशकाल-कलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् । मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीवयस्स्वेच्छया तस्मै श्रीगुरु० ।।

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकम्भासते साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान् । यस्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ तस्मै श्रीगुरु० ।।

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरञ्ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिस्स्पन्दते । जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तञ्जगत् तस्मै श्रीगुरु० ।।

देहम्प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलाम्बुद्धिञ्च शून्यं विदुस्स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्ता भृशं वादिनः । मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे तस्मै श्रीगुरु० ।। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।

इसके बाद भाष्य आदि का पाठ करें । पाठ समाप्त होने पर पुनः निम्न शान्ति करें ।

ॐ राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योभूत्सुषुप्तः पुमान् । प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते तस्मै श्रीगुरु० ।।

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तस्स्फुरन्तं सदा । स्वात्मानम्प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया तस्मै श्रीगुरु० ।।

विश्वम्पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः । स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितस्तस्मै श्रीगुरु० ।।

भूरम्भांस्यनलोनिलोम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमानित्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम् । नान्यत्किञ्चन विद्यते विमृशतां यस्मात्परस्माद्विभोस्तस्मै श्रीगुरु० ।।

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिंस्तवे तेनास्य श्रवणात्तथार्थमननाद्ध्यानाच्च सङ्कीर्तनात् । सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतस्सिद्ध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतञ्चैश्वर्यमव्याहतम् ।।

ॐ शन्नो मित्रः शं वरुणः·········ब्रह्मैवाहमस्मि । ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।

—इति—

संकेत

अ०; अथर्व०	अथर्ववेद शौनक संहिता
ऋ०	ऋग्वेद शाकल्यसंहिता
ऐ०	ऐतरेयोपनिषद्
क०; का०; कठ०	काठकसंहितोपनिषद्
के०	तलवकारब्राह्मणोपनिषद्
छा०	छान्दोग्योपनिषद्
तै०	तैत्तिरीयशाखा
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
प्र०	प्रश्नोपनिषद्
बृ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
भा०	शङ्करभगवत्पादभाष्य
मा०	मानसोल्लास
मु०; मुं०	मुण्डकोपनिषद्
यजु०	यजुर्वेद माध्यन्दिनसंहिता
शि० ल०	शिवानन्दलहरी
श्वे०	श्वेताश्वतरोपनिषद्